धर्म

जीवन जीने की कला

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास

धर्म

जीवन जीने की कला

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास

पहला संस्करण : 1976
छठा संस्करण : 1990
सातवां संस्करण : 1993
आठवां संस्करण : 1995

प्रकाशक
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि,
इगतपुरी 422 403, महाराष्ट्र

मूल्य : 20 रु.

मुद्रक : कुमार एण्ड कम्पनी, जयपुर

क्रम

1.	धर्म क्या है?	1
2.	शुद्ध धर्म	13
3.	धर्म का सार	16
4.	धर्म धारण करें	28
5.	बुद्धि विलास धर्म नहीं है	31
6.	धर्म का सही मूल्यांकन	34
7.	सही कुशल!	46
8.	समता धर्म	49
9.	सरल चित्त	60
10.	धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप	65
11.	धर्म ही रक्षक है	72
12.	क्या पड़ा है 'नाम' में?	75
13.	सत्य-धर्म	82
14.	विपश्यना क्या है?	86
15.	धर्मचक्र	93
16.	सम्यक-धर्म	96
17.	सत्य ही धर्म है	106
18.	धर्म दर्शन	119
19.	विपश्यना क्यों?	132
20.	आओ सुख बांटें	142

धर्म जीवन जीने की कला

आठवां संस्करण

प्रकाशकीय

धर्म धर्म तो सब कहें, पर समझे ना कोय।
शुद्ध चित्त का आचरण, सत्य धर्म है सोय॥

विपश्यनाचार्य श्रद्धेय श्री सत्यनारायण गोयन्का द्वारा विरचित इस दोहे में दो बातें कही गई हैं:

1. हर कोई 'धर्म' तो कहता-फिरता है, परन्तु यह नहीं समझता कि 'धर्म' होता क्या है?
2. वस्तुत: निर्मल चित्त का आचरण ही शुद्ध 'धर्म' होता है।

लेखक का कहना है कि इस युग में कुछ लोग बाहरी वेशभूषा को ही धर्म मानते हैं, जबकि धर्म का इससे कुछ लेना-देना नहीं होता; कुछ लोग बाह्याडंबर को धर्म मानते हैं, जबकि धर्म का इससे कुछ लेना-देना नहीं होता; कुछ लोग परंपरागत मान्यताओं को धर्म मानते हैं, जबकि धर्म का इससे कुछ लेना-देना नहीं होता; कुछ लोग शुष्क तर्क-वितर्क करके किसी बौद्धिक मान्यता को स्थापित कर उसे धर्म मानते हैं, जबकि धर्म का इससे कुछ लेना-देना नहीं होता।

कुछ लोग केवल शील-सदाचार के पालन को ही धर्म मानते हैं, जबकि यह धर्म का एक प्रारंभिक कदम मात्र है; कुछ लोग समाधि, अर्थात् मन को एकाग्र कर लेने को धर्म मानते हैं, जबकि यह भी धर्म के रास्ते पर उठाया जाने वाला अंतरिम कदम मात्र ही है।

बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो बाहरी वेशभूषा, बाह्याडंबर, परंपरागत मान्यताओं, बौद्धिक लेपों, इत्यादि से अपने आपको अलग कर शील एवं समाधि से आगे बढ़ प्रज्ञा का अभ्यास करते हैं, अर्थात् स्वानुभूतियो द्वारा आत्म-निरीक्षण का काम करते हुए शनैः-शनैः अपने विकारों क शमन करते हुए नितांत विकार-विमुक्त अवस्था प्राप्त करने में लग जाते हैं। वस्तुतः धर्म का यही सच्चा स्वरूप है जिससे कोई भी मनुष्य विकार-विहीन रह कर न केवल अपने लिए, बल्कि पूरे समाज के लिए, सुख-शांति का सृजन कर सकता है। यही जीवन जीने की कला है जिसे शुद्ध धम के आचरण द्वारा कोई व्यक्ति सीख सकता है।

लोग शुद्ध धर्म से किस प्रकार विमुख हो जाते हैं और किस प्रका किसी भ्रांतिमूलक धर्म को अपना लेते हैं, इसका चित्रण इस पुस्तक मे इस प्रकार मिलता है:

> ''किसी संत पुरुष ने हमें अंधकार में भटकते देख अत्यंत करुण चित्त से हमारे हाथ में जलती हुई मशाल पकड़ाई ताकि उस प्रकाश के सहारे हम सही रास्ते चल कर अपनी जीवन-यात्रा सकुशल पूरी करें परन्तु कालांतर में उस मशाल की ज्योति बुझ गई। हमारे हाथ मे केवल डंडा रह गया और हम मूढ़तावश उस डंडे को ही मशाल मान कर उससे चिपक गये। शिव छूट गया, शव रह गया। थोथ बाह्याचार ही हमारे लिए धर्म बन गया।''

इसी बात को भगवान् बुद्ध की एक उपमा के आधार पर भी समझा ज सकता है–

> ''एक मृदंग बजाये जाने पर चिरकाल से अत्यंत कर्णप्रिय ध्वनि किया करता था। एक समय किसी व्यक्ति को यह सूझा कि इस ध्वनि

को और अधिक कर्णप्रिय बनाऊं। इसके लिए उसने मृदंग में एक कीला ठोंक दिया। इससे ध्वनि की कर्णप्रियता तो कम हुई, परन्तु वह यही मानता रहा कि कर्णप्रियता बढ़ी है। (हर व्यक्ति को अपना किया हुआ काम हमेशा न्यायसंगत एवं प्रिय लगता है।)

कुछ समय पश्चात् एक अन्य व्यक्ति ने भी मृदंग की ध्वनि को और अधिक कर्णप्रिय बनाने के लिए इसमें अपनी ओर से एक नया कीला ठोंक दिया। ऐसे ही तीसरे, चौथे, पाँचवें, और न जाने कितने लोगों ने समय-समय पर उस मृदंग में अपने-अपने कीले ठोंक दिये।

इसके परिणामस्वरूप एक समय ऐसा आ गया जबकि कीलों से पूरी तरह आच्छादित हो जाने के कारण मृदंग तो दिखाई देना बंद हो गया और उसके स्थान पर कीले ही कीले दिखाई देने लगे।"

शुद्ध धर्म की भी यही दशा हुई है। यह शील, समाधि और प्रज्ञा के शुद्ध स्वरूप में चिरकाल तक लोगों का कल्याण करता रहा, परन्तु समय बीतते-बीतते विवेकहीन लोगों द्वारा अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार इसमें सम्मिश्रण करते रहने से इसका असली स्वरूप पूरी तरह से लुप्त हो गया और मुँहबाए कीलों के समान केवल बाहरी वेशभूषाएं, बाह्याडंबर, सांप्रदायिक मान्यताएं, शुष्क तर्क-वितर्क, निरा शील, निरी समाधि ही धर्म का स्वरूप ग्रहण कर बैठे।

इस पुस्तक में मानवमात्र के लिए एक संदेश निहित है कि कोई भी व्यक्ति किस प्रकार धर्म के सही स्वरूप को उसके मिथ्या स्वरूप से अलग करके उसकी पहचान करले, और फिर अपना भला-बुरा स्वयं समझ कर एक कर्मठ व्यक्ति के समान शुद्ध धर्म का मार्ग अपना कर अपने विकारों

से मुक्त हो अपना भी कल्याण करे और समाज का भी कल्याण क
और इस प्रकार 'धर्म' को 'जीवन जीने की कला' के रूप में ग्रहण क
अपने जीवन को सफल बना ले।

मंत्री

विपश्यना विशोधन विन्या

1. धर्म क्या है ?

धर्म जीवन जीने की कला है। स्वयं सुख से जीने की तथा औरों को सुख से जीने देने की। सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, दुखों से मुक्त रहना चाहते हैं। परंतु जब हम यह नहीं जानते कि वास्तविक सुख क्या है और यह भी नहीं जानते कि उसे कैसे प्राप्त किया जाए तो झूठे सुख के पीछे बावले होकर दौड़ लगाते हैं। वास्तविक सुख से दूर रहकर अधिकाधिक दुखी होते हैं। स्वयं को ही नहीं औरों को भी दुखी बनाते हैं।

वास्तविक सुख आंतरिक शांति में है और आंतरिक शांति चित्त की विकार-विहीनता में है, चित्त की निर्मलता में है। चित्त की विकार-विहीन अवस्था ही वास्तविक सुख-शांति की अवस्था है।

सच्ची शांति और सच्चा सुख वही भोगता है जो निर्मल चित्त का जीवन जीता है। जो जितना विकारमुक्त रहता है उतना ही दुख-मुक्त रहता है, उतनी ही जीवन जीने की सही कला जानता है, उतना ही सही माने में धार्मिक होता है। निर्मल चित्त का आचरण ही धर्म है। यही जीने की कला है। इसमें जो जितना

निपुण है वह उतना ही अधिक धार्मिक है। धार्मिक की यह
सही परिभाषा है।

प्रकृति का एक अटूट नियम है जिसे कोई ऋत कह
अथवा धर्म-नियामकता कह ले, नाम के भेद से कोई अंतर न
पड़ता। नियम यह है कि ऐसा किया जायगा तो उसका ऐस
परिणाम आयेगा ही। वैसा नहीं किया जायगा तो वैसा परिणा
नहीं आ सकता। कारणों के परिणामस्वरूप जो कार्य संपन्न हो
है, उन कारणों के नहीं रहने से वह कार्य नहीं हो सकता। इ
नियम के अनुसार जब-जब हमारा मन द्वेष, दौर्मनस्य, क्रोध, ईर्ष्य
भय आदि से आक्रांत हो उठता है, तब-तब हम व्याकुल
जाते हैं। दुख-संतापित होकर सुख से वंचित हो जाते हैं। जब-ज
हमारा मन ऐसे विकारों से विकृत नहीं रहता, तब-तब हम व्याकुल
से मुक्त रहते हैं। दुख-संतापित होने से बचे रहते हैं। अप
आंतरिक सुख-शांति के मालिक बने रहते हैं।

जो विकारों से मुक्त रहना सिखाती है वही जीवन जीने
सही कला है। वही शुद्ध धर्म है। शुद्ध धर्म का स्वरूप ब
ही मंगलमय और कल्याणप्रद है। हम जब-जब विकार-विमु
होकर निर्मल चित्त से आचरण करते हैं, तब-तब स्वयं तो वास्तवि
सुख-शांति भोगते ही हैं औरों की सुख-शांति का भी का
बनते हैं। इसी प्रकार जब-जब विकारग्रस्त होकर म
चित्तजन्य आचरण करते हैं, तब-तब स्वयं तो संतापित होते
हैं औरों के संताप का भी कारण बनते हैं। समाज की श
भंग करते हैं।

क्रोध, लोभ, वासना, भय, मात्सर्य, ईर्ष्या, अहंकार आदि मनोविकारों के शिकार बन हम हत्या, चोरी, व्यभिचार, झूठ, छल-कपट, चुगली, परनिंदा, निरर्थक बकवास करते हैं, कड़ुवा-कठोर बोलते हैं; और जब-जब ऐसा करते हैं, तब-तब आत्म तथा पर-संताप का कारण बनते हैं। मनोविकारों के बिना कोई भी शारीरिक या वाचिक दुष्कर्म संपन्न हो नहीं सकता। परंतु यह अनिवार्य नहीं है कि मनोविकारों के उत्पन्न होने पर हम कायिक और वाचिक दुष्कर्म करें ही। बहुधा प्रबल मनोविकारों के उत्पन्न होने के बावजूद भी आत्मदमन द्वारा हम ऐसे कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से बच जाते हैं। इससे प्रत्यक्षतः औरों की हानि नहीं कर पाते। परंतु फिर भी दूषित मनोविकारों से आक्रांत होकर यदि मन ही मन व्याकुल रहते हैं तो मानसिक दुष्कर्म तो करते ही हैं। इससे अपनी शांति खोते हैं; परोक्षतः औरों की शांति भी भंग करते हैं। हमारे मन की दूषित तरंगें आस-पास के वातावरण को प्रभावित और दूषित किये बिना नहीं रह सकतीं।

जब-जब हमारा मन विकार-विमुक्त और निर्मल होता है, तब-तब स्वाभाविक ही वह स्नेह और सद्भाव से, मैत्री और करुणा से भर उठता है। उस समय हम स्वयं तो सुख-शांति का अनुभव करते ही हैं, परोक्षतः औरों की भी सुख-शांति का कारण बनते हैं। हमारे निर्मल चित्त की तरंगें आस-पास के वातावरण को प्रभावित कर उसे यथाशक्ति निर्मल बनाती हैं।

अतः आत्मदमन ही धर्म की सर्वांग संपूर्णता नहीं है। लेकिन धर्म धारण करने का पहला कदम यहीं से आरंभ होता है। पहले

तो संयम-संवर द्वारा ही हम कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से विरत होवें और फिर सतत अभ्यास द्वारा मानसिक दुष्कर्म से भी छुट्टी पा लें। मानसिक दुष्कर्मों से छुट्टी पाने का अर्थ है मानसिक विकारों से मुक्त हो जाना। विकार-विहीन निर्मल चित्त अपने सहज स्वभाव से ही कोई मानसिक, वाचिक या शारीरिक दुष्कर्म नहीं कर सकेगा। अतः मुख्य बात है अपने चित्त को विकारों से विमुक्त रखना।

हम अपने प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक रहकर ही उसे दोषमुक्त रख सकते हैं। अपने चित्त और चित्त के विकारों के प्रति जागरूक रहकर ही उसे विकारमुक्त रख सकते हैं। उसके प्रति अनजान और मूर्च्छित रहते हुए हम उसे कदापि स्वच्छ नहीं कर सकते, उसकी स्वच्छता को कायम नहीं रख सकते। अतः अपने शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का, अपने चित्त और चित्तवृत्तियों का सतत निरीक्षण करते रहने का अभ्यास ही धर्म धारण करने का सही अभ्यास है। किसी भी कर्म के करने से पूर्व और करते समय हम यह जांच करें कि इस कर्म में हमारा तथा अन्यों का मंगल समाया हुआ है अथवा अमंगल। यदि मंगल है तो वह काम करें और यदि अमंगल हो तो न करें। इस प्रकार भलीभांति विवेकपूर्वक जांच कर किया गया कर्म सर्वमंगलमय ही होगा अतः धर्ममय ही होगा। यदि कभी अनवधानतावश बिना जांचे किये कोई कायिक या वाचिक दुष्कर्म हो गया, जो कि अपने तथा अन्यों के लिए अहितकर हुआ तो उसे लेकर प्रायश्चित्त करते हुए रो-रोकर किसी अपराध-ग्रंथि से ग्रस्त न हो जाएं, बल्कि

शीघ्र से शीघ्र अपने किसी साथी साधक अथवा गुरुजन से मिलकर, उनके सम्मुख अपनी भूल प्रकट कर, उसे स्वीकार कर लें और उस भार से मुक्ति पाएं तथा भविष्य में और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसंकल्प बनें। चित्त के प्रति भी इसी प्रकार जागरूकता का अभ्यास बढ़ाएं। जब-जब चित्त पर कोई विकार जागे, तत्क्षण उसका निरीक्षण करें। साक्षी की तरह निरीक्षण करने मात्र से वह दुर्बल होते-होते विनष्ट हो जायगा। कभी अनवधानतावश उसका निरीक्षण न कर पाएं और परिणामत: वह हम पर हावी हो जाय तो उसे भी याद कर करके रोएं नहीं, बल्कि और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसंकल्प हों और जागरूकता का अभ्यास बढ़ाएं। शुद्ध धर्म में प्रतिष्ठापित होने का यही वैज्ञानिक तरीका है।

जिस अभ्यास से अपने कर्मों के प्रति जागरूकता और साव-धानी बढ़ती हो, वही शुद्ध धर्म का अभ्यास है। जिस विधि से अपने कर्मों को सुधारने वाली चित्त-निर्मलता प्राप्त होती हो, वही धर्मविधि है।

जब हम आत्मनिरीक्षण कर अनुभूतियों के बल पर देखते हैं तो पाते हैं कि प्रत्येक दुष्कर्म का कारण अपने चित्त की मलीनता है। कोई न कोई मनोविकार है। हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक विकार का कारण अपने ही अहम् के प्रति उत्पन्न हुई गहन आसक्ति है। जब-जब आसक्ति के अंधेपन में इस 'मैं' को अत्यधिक महत्व देकर इससे चिपक जाते हैं, तब-तब संकुचित दायरे में आबद्ध होकर मन मलीन कर कोई न कोई ऐसा कर्म कर लेते हैं जो कि परिणामत: अकुशल होता है।

आत्मनिरीक्षण के अभ्यास द्वारा स्वानुभूतियों के बल पर ही यह स्पष्ट होता है कि जब-जब स्वार्थांध होकर हम विकारग्रस्त होते हैं, तब-तब औरों का अहित तो करते ही हैं, अपना सच्चा स्वार्थ भी नहीं साध पाते। और जब-जब इस अंधेपन से मुक्त रहते हैं, तब-तब आत्महित और परहित दोनों साधते हैं। आत्महित और परहित साधने का कर्म ही धर्म है। जहां आत्मलाभ के साथ-साथ पर-लाभ भी सधता हो, वही धर्म है। जहां किसी का भी अहित होता हो, वहां अधर्म ही अधर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय का सामंजस्यपूर्ण स्वस्थ जीवन ही धर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय अन्योन्याश्रित हैं।

हमारे सत्कर्म और दुष्कर्म केवल हमें ही सुखी-दुखी नहीं बनाते, बल्कि हमारे अन्य संगी-साथियों को भी प्रभावित करते हैं। मनुष्य समाज के अन्य सदस्यों के साथ रहता है। वह समाज का अविभाज्य अंग है। समाज द्वारा स्वयं प्रभावित होता है और समाज को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित करता रहता है। इसलिये धर्म साधन द्वारा जब हम नैतिक जीवन जीते हैं, दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्मों में लगते हैं तो केवल अपना ही भला नहीं करते, बल्कि औरों का भी भला साधते हैं।

जीवनमूल्यों के लिए ही तो धर्मसाधना है। यदि धर्म के अभ्यास से जीवनमूल्य ऊंचे नहीं उठते, हमारा लोक-व्यवहार नहीं सुधरता, हम अपने लिए तथा औरों के लिए मंगलमय जीवन नहीं जी सकते तो ऐसा धर्म हमारे किस काम का? किसी के भी किस काम का? धर्म इसलिए है कि हमारे पारस्परिक संबंध सुधरें

हममें व्यवहार-कौशल्य आये। परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय सारे पारस्परिक संबंध व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों पर ही निर्भर होते हैं। अतः शुद्ध धर्म यही है कि प्रत्येक व्यक्ति यहीं, इसी जीवन में औरों के साथ अपना व्यवहार-संबंध सुधारे। इसी जीवन में सुख-शांति से जीने के लिए धर्म है। मृत्यु के बाद बादलों के ऊपर किसी अज्ञात स्वर्ग का जीवन जीने के लिए नहीं। मृत्यु के बाद पृथ्वी के नीचे किसी अनजान नरक से बचने के लिए नहीं। बल्कि हमारे ही भीतर समाये हुए स्वर्ग का सुख भोगने के लिए, हमारे अपने ही भीतर समय-समय पर यह जो नारकीय अग्नि जल उठती है, उसे शांत करने के लिए; उससे बचने के लिए। धर्म सांदृष्टिक है, प्रत्यक्ष है। इसी जीवन, इसी लोक के लिए है। वर्तमान के लिए है। जिसने अपना वर्तमान सुधार लिया, उसे भविष्य की चिंता करने की जरूरत नहीं। उसका भविष्य स्वतः सुधर जाता है। जिसने लोक सुधार लिया, उसे परलोक की चिंता नहीं। उसका परलोक स्वतः सुधर जाता है। जो अपना वर्तमान नहीं सुधार सका, अपना इहलोक नहीं सुधार सका और केवल भविष्य की ओर आशा लगाए, परलोक की ओर टकटकी लगाए बैठा है, वह अपने आपको धोखा देता है। अपने वास्तविक मंगल से वंचित रहता है। शुद्ध धर्म से दूर रहता है। धर्म अकालिक होता है। यानी अभी इसी जीवन में फल देने वाला होता है। धर्म के नाम पर कोई अनुष्ठान करें और उसका लाभ यहां न मिले, विकार-विहीन चित्त की निर्मलता का वास्तविक सुख यहीं इसी जीवन में न मिले, तो समझना चाहिए

किसी धोखे में उलझ रहे हैं। शुद्ध धर्म से वंचित हो रहे है
धर्म सब के लिए इसी जीवन को सुख-शांतिमय बनाने हेतु है
आंखों के परे किसी सुदूर भविष्य की निरर्थक चिंता से मु
होने के लिए है। यही धर्म है। यही धर्म की शुद्धता है। य
शुद्ध धर्म का जीवन है, जिसकी आवश्यकता सार्वजनीन है।

धर्म सार्वजनीन है, इसलिए शुद्ध धर्म का संप्रदाय से क
संबंध नहीं, कोई लेन-देन नहीं। शुद्ध धर्म के पथ का पथि
जब धर्म पालन करता है तब किसी संप्रदाय-विशेष के थोथे निष्प्रा
रीति-रिवाज पूरे करने के लिए नहीं, किसी ग्रंथ-विशेष
विधि-विधान का अनुष्ठान पूरा करने के लिए नहीं, मिथ
अंधविश्वासजन्य रूढ़ि-परंपरा का शिकार होकर किसी लकीर
फकीर बनने के लिए नहीं, बल्कि शुद्ध धर्म का अभ्यासी अ
जीवन को सुखी और स्वस्थ बनाने के लिए ही धर्म का पाल
करता है। धार्मिक जीवन जीने के लिए धर्म को भलीभांति समझक
उसे आत्मकल्याण और परकल्याण का कारण मानकर ही उस
पालन करता है। बिना समझे हुए केवल अंधविश्वास के का
अथवा किसी अज्ञात शक्ति को संतुष्ट-प्रसन्न करने के लिए अथ
उसके भय से आशंकित-आतंकित होकर धर्म का पालन न
करता। धर्म का पालन दूषणों का दमन करने के लिए ही न
बल्कि प्रज्ञापूर्वक उनका पूर्ण शमन और रेचन करने के लिए क
है। धर्म का पालन केवल अपने ही लिए नहीं, बल्कि बहु
के हित-सुख, मंगल-कल्याण और बहुजन की स्वस्ति-मुक्ति
लिए करता है।

धर्म का पालन यही समझकर करना चाहिए कि वह सार्वजनीन है, सर्वजनहितकारी है; किसी संप्रदाय-विशेष, वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से बंधा हुआ नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है। धर्म तभी तक शुद्ध है, जब तक सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। सबके लिए एक-जैसा कल्याणकारी, मंगलकारी, हित-सुखकारी है। सबके लिए सरलतापूर्वक बिना हिचक के ग्रहण कर सकने योग्य है।

शुद्ध वायुमंडल में रहना, शुद्ध-स्वच्छ हवा का सेवन करना, शरीर स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना, शुद्ध सात्विक भोजन, मुझे इसलिए करना चाहिए कि यह मेरे लिए हितकर है। परंतु यह केवल मेरे लिए ही नहीं, किसी एक जाति-विशेष, वर्ग-विशेष या संप्रदाय-विशेष के लिए ही नहीं, बल्कि सबके लिए समान रूप से हितकर है। केवल मैं ही नहीं, कोई भी व्यक्ति यदि अशुद्ध, अस्वस्थ वातावरण में रहता है, गंदी विषैली वायु का सेवन करता है, अपने शरीर और वस्त्रों को गंदा रखता है, अस्वच्छ-दूषित भोजन करता है तो अपने स्वास्थ्य को हानि पहुंचाता है, रोगी और दुखी होता है। यह नियम सार्वजनीन है। किसी एक व्यक्ति-विशेष, किसी एक जाति-विशेष पर ही लागू नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब कोई अपने मन को विकारों से विकृत करता है तो व्याकुल होता है। उसके वात-पित्त-कफ में विषमता पैदा होती है। वह रोग-ग्रस्त होता है। स्वास्थ्य-विज्ञान के सामान्य नियम सभी के तन और मन पर समान रूप से लागू होते हैं। प्रकृति यह नहीं देखती कि इन नियमों का उल्लंघन करने वाला

कौन है, किस जाति और किस संप्रदाय का है। प्रकृति किसी संप्रदाय-विशेष के व्यक्ति पर कृपा नहीं करती, न किसी अन्य पर कोप करती है। मलेरिया मलेरिया है। न हिंदू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। वैसे ही कुनैन कुनैन है। वह न हिंदू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। इसी प्रकार क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार न हिंदू हैं न बौद्ध, न जैन हैं न पारसी, न मुस्लिम हैं न ईसाई। वैसे ही इनसे विमुक्त रहना भी न हिंदू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। विकारों से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है। अतः शुद्ध धर्म न हिंदू है, न बौद्ध है, न जैन है, न पारसी है, न मुस्लिम है, न ईसाई है। वह शुद्ध धर्म ही है।

धर्म एक आदर्श जीवन-शैली है, सुख से रहने की पावन पद्धति है, शांति प्राप्त करने की विमल विधा है, सर्वजन-कल्याणी आचारसंहिता है, जो सबके लिए है।

क्या शीलवान, समाधिवान, प्रज्ञावान होना केवल बौद्धों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह होना केवल जैनियों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या स्थितप्रज्ञ, अनासक्त, जीवन्मुक्त होना केवल हिंदुओं का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत होकर जन-सेवा करना केवल ईसाइयों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या जात-पांत के भेदभाव से मुक्त रहकर सामाजिक समता का जीवन जीना केवल मुसलमानों का ही धर्म है? औरों का नहीं? धर्मपालन का मुख्य उद्देश्य है हम आदमी बनें। अच्छे आदमी

बनें। अच्छे आदमी बन जायेंगे तो अच्छे हिंदू, अच्छे बौद्ध, अच्छे जैन, अच्छे मुसलमान, अच्छे ईसाई आदि बन ही जायेंगे। यदि अच्छे आदमी ही नहीं बन सके तो बौद्ध बने रहने से भी क्या हुआ? हिंदू, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि बने रहने से भी क्या हुआ?

धर्म की इस शुद्धता को समझें और धारण करें। हम सब के जीवन में शुद्ध धर्म जागे। निस्सार छिलकों का अवमूल्यन हो, उन्मूलन हो; शुद्ध सार का सही मूल्यांकन हो, प्रतिष्ठापन हो। शुद्ध धर्म जीवन का अंग बन जाय। इसी में हमारा सच्चा कल्याण, सच्चा मंगल समाया हुआ है। ★

सत्य धर्म है सोय

धर्म न हिंदू बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन॥
धर्म धर्म तो सब कहें, पर समझे ना कोय।
शुद्ध चित्त का आचरण, सत्य धर्म है सोय॥
कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
विकृत मन व्याकुल रहे, निर्मल सुखिया होय॥
द्वेष और दुर्भाव के, जब जब उठें विकार।
मैं भी दुखिया हो उठूं, दुखी करूं संसार॥
मैं भी व्याकुल ना रहूं, जगत न व्याकुल होय।
जीवन जीने की कला, सत्य धर्म है सोय॥
यही धर्म की परख है, यही धर्म का माप।
जन जन का मंगल करे, दूर करे संताप॥

2. शुद्ध धर्म

लंबी परंपरा के कारण धर्म के नाम पर जो थोथे छिलके बच गये हैं, उनसे छुटकारा लें और शुद्ध धर्म के सार को ग्रहण करें। धर्म का सार ही मंगलदायक है, सार्थक है। लेकिन छिलके निरर्थक हैं, हानिप्रद हैं। सार प्राप्त होने पर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।

शुद्ध धर्म का सार शील है, सदाचार है, वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से बचना है। शरीर और वाणी के दुष्कर्मों में लगे रहें तो मन की गंदगी यानी विकार बढ़ेंगे ही। क्योंकि शरीर और वाणी का हर दुष्कर्म गंदे मन से ही संपन्न होता है। बिना चित्त को दूषित किए हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य अथवा गंदा भाषण, अथवा नशे का सेवन नहीं हो सकता। शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से मन का मैल बढ़ता है, घटता नहीं। मन का हर मैल हमें दुखी बनाता है, सुखी नहीं।

शुद्ध धर्म का सार समाधि है। किसी कल्पनाविहीन यथार्थ आलंबन के सहारे चित्त को एकाग्र कर लेना समाधि है। जैसे एकाग्रता-विहीन

चित्त मैला रहता है, वैसे ही कल्पना या कामना के आधार पर एकाग्र हुआ चित्त भी। मैला चित्त हमें दुखी बनाता है, सुखी नहीं।

शुद्ध धर्म का सार प्रज्ञा है। जीवन-व्यवहार में आने वाले सभी बाह्य आलंबनों को और अपनी भीतरी मन:स्थितियों को यथाभूत, यथास्वभाव जानते रहना, उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने के बजाय, उनसे अनासक्त रहना ही प्रज्ञा है। राग, द्वेष, मोह और तज्जन्य आसक्तियां मन की मैल हैं। प्रज्ञा इन आसक्तियों का मैल दूर करती है। मैल रहे तो हम दुखी रहते हैं, सुखी नहीं।

शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास का प्रत्येक कदम शुद्ध धर्म के अभ्यास का, धर्म के सार को ग्रहण करने का, सच्चे सुख को प्राप्त करने का कदम है। जिससे न हमारा शील प्रतिष्ठित होता है, न शुद्ध समाधि पुष्ट होती है और न प्रज्ञा स्थिर होती है, वह कर्म थोथी परंपरा के कारण चाहे जितना धार्मिक कृत्य कहा जाय, पर वस्तुत: सत्य-धर्म से, सार-तत्व से दूर ले जाने वाला कदम ही है। ऐसे सभी निरर्थक बाह्याचार, थोथे कर्मकांड, निर्जीव लकीरें, दंभपूर्ण दिखावे, आडंबरपूर्ण वेषभूषाएं, उच्च जाति में जन्म लेने अथवा धनवान होने का मिथ्या अहंभाव आदि सब निस्सार ही हैं। दुख ही दुख हैं। अपने लिए भी, औरों के लिए भी।

इसलिए, धर्म के सार को ही ग्रहण करें, निस्सार को त्यागें। अपने तथा औरों के सुख के लिए! कल्याण के लिए!! ★

शील धर्म की नींव है

शील धर्म पालन भला, सम्यक भली समाधि।
प्रज्ञा तो जाग्रत भली, दूर करे भव व्याधि॥
शील धर्म की नींव है, है समाधि ही भींत।
प्रज्ञा छत है धर्म की, मंगल भवन पुनीत॥
प्रज्ञा शील समाधि ही, शुद्ध धर्म का सार।
काया वाणी चित्त के, सुधरे सब व्यवहार॥
शुद्ध धर्म का शांतिपथ, संप्रदाय से दूर।
शुद्ध धर्म की साधना, मंगल से भरपूर॥
जो चाहे सुखिया रहे, रहें सभी खुशहाल।
मन से, तन से, वचन से, शुद्ध धर्म ही पाल॥
यह ही ऋत है, नियम है, इससे बचा न कोय।
धर्म धार सुख ही मिले, त्यागे दुखिया होय॥

3. धर्म का सार

ठीक से समझे हुए धर्म को ही ठीक से पालन किया जा सकता है। धर्म के सार को समझें। सार को समझेंगे तभी उसे ग्रहण कर पायेंगे अन्यथा भीतर का सार-तत्त्व छोड़कर छिलकों में ही उलझे रह जायेंगे। उन्हें ही सार समझकर धर्म मानने लगेंगे।

सार में सदा समानता रहती है। भिन्न-भिन्न छिलके हुआ करते हैं और जहां इन छिलकों को धर्म मान लिया जाता है वहां धर्म भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यह हिंदुओं का धर्म, हिंदुओं में भी सनातनी, आर्यसमाजी। यह बौद्धों का धर्म, बौद्धों में भी महायानी, हीनयानी। यह जैनियों का धर्म, जैनियों में भी दिगंबरी, श्वेतांबरी। यह ईसाइयों का धर्म, ईसाइयों में भी कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट। यह मुसलमानों का धर्म, मुसलमानों में भी शिया, सुन्नी आदि-आदि धर्म; भिन्न-भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी। निस्सार छिलकों को महत्त्व दिये जाने के कारण ये विभिन्नाताएं हैं और इन्हें लेकर ही पारस्परिक विरोध उत्पन्न होते हैं।

कोई चोटी रखे हुए है, कोई दाढ़ी। चोटी मोटी है या पतली? दाढ़ी मुंड़ी मूंछवाली या भरी मूंछवाली? कोई सिर के बाल बढ़ाए हुए है– बाल खूब सजे-सँवरे हैं या रूखे-सूखे जटा-जटिल? कोई सिर मुंड़ाए हुए है तो वह भी उस्तरे से या चिमटी से? किसी ने कान छिदवा रखे हैं तो उनमें बालियां पहनी हैं या कुंडल या मुद्राएं? कोई तिलक लगाए हुए है तो तिलक चंदन का है या रोली का या भस्म का? इस आकार का है या उस आकार का? कोई माला पहने है तो वह रुद्राक्ष की है या चंदन की या तुलसी की? बीच में लटकन वाली है या बिना लटकन वाली? यदि लटकन वाली है तो उसमें किसी देवी, देवता, गुरु, आचार्य का चित्र या चिह्न लटकता है? कोई निर्वस्त्र है तो कोई वस्त्र पहने हुए। वस्त्र पहने है तो वह सिला है या अनसिला? इस रंग का है या उस रंग का? इस बनाव-कटाव का है या उस बनाव-कटाव का? धोती है या लुंगी? पाजामा है या पतलून? कमीज है या कुर्ता? अचकन है या कोट? दुपल्ली टोपी है या तुर्की टोपी या अंग्रेजी हैट? कोई गले, भुजा, कलाई, पैर या अँगुलियों में डोरा बांधे है अथवा जंतर, ताबीज या गंडा? और है तो उसमें कोई अंक है या अक्षर? या शब्द? या मंत्र? या तंत्र? या यंत्र? कोई हाथ में पात्र लिए है या करपात्री है? पात्र है तो मिट्टी का है? लकड़ी का है? लोहे का है? या अन्य किसी धातु का?

ये अनेकरूप-रूपाय, भिन्न-भिन्न बाह्याडंबर, वेष-भूषा, आकार-प्रकार, बनावट-सजावट, भिन्न-भिन्न संप्रदायों के प्रतीक

मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत भिन्न-भिन्न धर्म बनकर पारस्परिक वि
का कारण बन गये हैं। कभी-किसी धर्मनेता ने प्यासी ज
को अमृत-जैसा धर्मरस दिया। परंतु जिस पात्र में दिया वह
ही हमारे लिए प्रमुख हो गया। कालांतर में जब वह पात्र ज
हुआ तो उसमें छेद होकर सारा धर्मरस बह गया। खोखला
ही हमारे पास रह गया। इस पात्र के रस को हमने जाना
चखा नहीं। इसलिए यह खोखला पात्र हमारे लिए धर्म हो ग
और इसे छाती से चिपकाए रखने को हम जीवन की सार्थक
मानने लगे।

जैसे भिन्न-भिन्न रूप-सज्जा वैसे ही भिन्न-भिन्न थोथे, निर्ज
निष्प्राण कर्मकांड हमारे लिए धर्म बन गये हैं और हमें उ
गहरा चिपकाव हो गया है। शुद्ध धर्म फिर छूट गया और
चूल्हे-चौके को, कच्ची या पक्की रसोई को, जात-पांत
छूआ-छूत को, इस या उस नदी, पोखरे अथवा समुद्र में न
को, इस या उस तीर्थ की यात्रा कर लेने को ही धर्म म
लगे हैं। इस या उस मंदिर, मस्जिद, गिरजा, चैत्य, उपाश्र
गुरुद्वारे में सुबह-शाम हाजिरी दे आने को ही धर्म मानने
हैं। पूर्व या पश्चिम की ओर मुँह करके, खड़े होकर या बैठ
घुटने मोड़कर या पालथी मारकर, हाथ जोड़कर या अंजली पसार
पंचांग, अष्टांग या दंडवत प्रणाम करके, इस या उस देवी, दे
गुरु, आचार्य या धर्मनेता की तस्वीर, मूर्ति, चरणचिह्न, पाद
या धातु-अवशेष अथवा उसके उपदेश-ग्रंथ के सामने वंदना क
सिर झुकाने, दीप जलाने, नैवेद्य चढ़ाने, आरती उतारने, शंख बज

घंटे-घड़ियाल बजाने, नाचने, गाने, अजान पढ़ने, स्तोत्र पढ़ने, उसके नाम की माला जपने अथवा उसकी वाणी के पाठ करने को ही धर्म मानने लगे हैं। भले यह सब यंत्रवत ही क्यों न होता हो। इसी प्रकार भयभीत चित्त द्वारा किसी की मनौती मनाने, प्रसाद चढ़ाने, जात-झडुला, जादू-टोना, अथवा झाड़-फूंक करने को ही धर्म मानने लगे हैं। किसी अज्ञात अदृश्य सत्ता को संतुष्ट-प्रसन्न करने के लिए मुर्गी, बकरे, गाय, भैंसे या मनुष्य तक की बलि चढ़ाते हैं और इसे भी धर्म ही मानते हैं। कोई बलि चढ़ाते हुए एक झटके में धड़ से सिर अलग करने को और कोई धीरे-धीरे तड़पा-तड़पाकर मारने को ही धर्म मानते हैं। इन भिन्न-भिन्न कर्मकांडों वाला धर्म बाजार में भी बिकने लगा है। हम चाहें तो पैसे के बल पर ऐसे धर्म को खरीद सकते हैं। जो कर्मकांड स्वयं नहीं कर सकते, उसे किराये के लोगों से करवा सकते हैं। यह सत्य-धर्म का घोर अवमूल्यन है!

सत्य-धर्म की उपलब्धि के लिए हमें जो साधन मिले, हमारी नासमझी के कारण वे ही हमारे लिए बंधन बन गये। किसी संत पुरुष ने हमें अंधकार में भटकते देख अत्यंत करुण चित्त से हमारे हाथ में जलती हुई मशाल पकड़ाई ताकि उस प्रकाश के सहारे हम सही रास्ते चलकर अपनी जीवन-यात्रा सकुशल पूरी करें। परंतु कालांतर में उस मशाल की ज्योति बुझ गयी। हमारे हाथ में केवल डंडा रह गया और हम मूढ़तावश उस डंडे को ही मशाल मानकर उससे चिपक गये। शिव छूट गया, शव रह गया। थोथा बाह्याचार ही हमारे लिए धर्म बन गया। ऐसी

दयनीय स्थिति में आकंठ डूबा होने के कारण ही कोई प्रवासी भारतीय कहता है, "मुझे बर्मा आए चालीस वर्ष बीत गए। यहां आकर मैंने चोरियां कीं, छल-कपट किया, व्यभिचार किया, नशा-पता किया; लेकिन अपना धर्म नहीं छोड़ा।" "कैसे धर्म नहीं छोड़ा?" पूछने पर बड़े सहज भाव से जवाब देता है, "इन चालीस वर्षों में मैंने कभी किसी बर्मी के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पिया।" कैसी दयनीय दशा बना ली है हमने बेचारे धर्म की!

कभी यह भी होता है कि इन बाह्याचार और बाह्याडंबर रूपी स्थूल छिलकों को तो हम धर्म नहीं मानते हैं, परंतु इनकी जगह ऐसे सूक्ष्म-सूक्ष्म छिलकों को धर्म मानने लगते हैं जो अधिक भ्रामक और अधिक बांधने वाले होते हैं। जब हम किसी अंध मान्यता, अंध भावावेश, अथवा बौद्धिक तर्कजाल को धर्म मानने लगते हैं तो उसमें अधिक बुरी तरह उलझ जाते हैं। हम जिस परिवार में जन्मे हैं, जिस परिवेश में पले हैं, उस वंश-परंपरा की किसी मान्यता के बारे में बार-बार सुनते रहे हैं। अतः उस मान्यता की लकीर बार-बार मन पर पड़ते-पड़ते इतनी गहरी बन गई है कि उसे छोड़कर और कोई मान्यता सही हो सकती है इसे स्वीकार करने तक को तैयार नहीं होते। हम जिस दार्शनिक परंपरा को मान रहे हैं, उसके साथ हमारा एक भावनात्मक संबंध जुड़ जाता है। फलस्वरूप उसके विपरीत अन्य किसी दृष्टिकोण को कभी स्वीकार ही नहीं कर सकते। अथवा यह भी होता है कि अपनी तर्कबुद्धि से हमने किसी मान्यता को अपना लिया है तो अपने ही बुद्धिबल को अत्यधिक महत्ता देने के स्वभाववश

अन्य किसी मान्यता को सही मानने को प्रस्तुत ही नहीं होते। परंपरागत मान्यता, हृदयगत भावुकता अथवा बौद्धिक तर्कजाल के कारण जब हम किसी भी मान्यता के गुलाम हो जाते हैं तो उसके प्रति इतनी गहरी आसक्ति पैदा कर लेते हैं कि हमेशा के लिए उसी के रंग का चश्मा पहन लेते हैं। अतः उस रंग के अतिरिक्त अन्य कोई रंग हमें दीखता ही नहीं। इस प्रकार सच्चाई से, शुद्ध धर्म से दूर हो जाते हैं। क्योंकि हर बात को अपने ही चश्मे के रंग से देखने के आदी हो जाते हैं।

मान लो, अंधविश्वास, भावावेश अथवा बौद्धिक ऊहापोह के आधार पर हमने कोई सही सिद्धांत ही स्वीकार कर रखा हो, परंतु उसके प्रति हुई आसक्ति के कारण उस सिद्धांत को स्वीकारने मात्र को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं, उसके व्यावहारिक पक्ष को सर्वथा भुला देते हैं। किसी सिद्धांत को स्वीकारने मात्र से क्या बनता है? मुख्य बात तो उस सिद्धांत को, यदि वह सही है तो, जीवन में उतारना चाहिए। जो जीवन में उतरे वही सही धर्म है अन्यथा निस्सार भावुकता है, थोथा बुद्धि-विलास है।

सैद्धांतिक स्तर पर हम आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या निरीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी, इतने प्रकार के तत्त्वों की संख्या गिनने वाले हैं या उतने प्रकार के तत्त्वों की, इन-इन तत्त्वों की ऐसी-ऐसी व्याख्या करने वाले हैं या वैसी-वैसी, इससे क्या अंतर पड़ता है? मुख्य बात तो यह है कि व्यावहारिक जगत में हम शुद्ध चित्त का जीवन जी रहे हैं या नहीं? अपने

आपको ईश्वरवादी कहने वाला व्यक्ति कल की चिंता में कित
व्याकुल हो रहा है? अपने आपको अनात्मवादी कहने वाला व्य
अपने अहं में किस कदर डूबा हुआ है? ऐसी अवस्था में को
सैद्धांतिक पक्ष किस काम का? मुख्य बात तो व्यावहारिक प
की है, आचरण की है। शुद्ध चित्त पर आधारित आचरण
धर्म है। कोई विशेष वेशभूषा पहनें या न पहनें, कोई विशे
कर्मकांड संपन्न करें या न करें, कोई विशेष दार्शनिक मान्य
मानें या न मानें; परंतु यदि हमारा मन-मानस द्वेष-दौर्मनस्य
भरा रहता है तो हम सर्वथा धर्महीन हैं और यदि वह स्नेह-सौमनस
से भरा रहता है तो हम धार्मिक ही हैं। कोई वेष-भूषा, को
कर्मकांड, कोई दार्शनिक मान्यता हमारे चित्त की विशुद्धि में सहाय
सिद्ध होती हो तो ग्राह्य है और यदि हमारी चित्तशुद्धि से उसक
कोई संबंध नहीं हो तो निरर्थक, निस्सार है। अगर यही ह
धार्मिक होने की मिथ्या भ्रांति पैदा करने वाली हो जाय तो जहरी
सांप की तरह खतरनाक है। अतः सर्वथा त्याज्य है। जब ह
धर्म के सत्यसार को नहीं समझते तो ऐसे ही खतरनाक जहरी
सांप-बिच्छू अपने भीतर पालते हैं। भांति-भांति के गंदे कूड़े-करक
बटोरकर उन्हें अपनी छाती से लगाकर कहते हैं– 'यही हमा
धर्म, यही अनमोल रत्न, यही मणि है।'

जब तक धर्म की वास्तविक मणि नहीं प्राप्त होती, तब त
हम कंगाल हैं। हमारा जीवन निस्सार दिखावे, निरर्थक कर्मक
और निकम्मे बुद्धिकिलोल से भरा रहता है। परंतु इतना होते ह
भी यदि हम इस सच्चाई को समझते हों कि यह सब साग

छिलके हैं, धर्म का सार तो चित्त की शुद्धता में है, राग-द्वेष-मोह के बंधनों से मुक्त होने में है, विषम स्थितियों में भी चित्त की समता बनाए रखने में है, मैत्री, करुणा, मुदिता में है और साथ-साथ यह भी समझते हों कि यह गुण हममें नहीं हैं, तो देर-सबेर हम धर्म के सार को प्राप्त कर ही लेते हैं। लेकिन जब हम इन निस्सार छिलकों को ही धर्म मानने लगें तो शुद्ध धर्म प्राप्त कर सकने की सारी संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं। हम इन बाह्य छिलकों में रमे हुए कभी भीतर की ओर निहारते ही नहीं, आत्मनिरीक्षण करते ही नहीं। हम यह जांच कभी करते ही नहीं कि जिसे धर्म माने जा रहे हैं, उसकी वजह से हमारे मन-मानस में क्या सुधार हो रहा है? हमारे जीवन-व्यवहार में क्या सुधार हो रहा है? जन्म-मरण से मुक्ति पाने की हजार चर्चाएं करेंगे, हजार आशाएं बांधेंगे, परंतु यहां इसी जीवन में मन को विकारों से मुक्त करने का जरा भी प्रयत्न नहीं करेंगे। धर्म का सार छूट जाने से जितनी बड़ी हानि होती है, उससे कई गुना बड़ी हानि निस्सार को सार समझकर उससे चिपक जाने से होती है। इससे तो रोग असाध्य हो उठता है।

धर्म की शुद्धता को जानना, समझना, जांचना, परखना, रोग-मुक्ति का पहला आवश्यक कदम है। शुद्ध धर्म सदा स्पष्ट और सुबोध होता है। उसमें रहस्यमयी गुत्थियां नहीं होतीं। पहेली बुझौवल नहीं होता। दिमागी कसरत नहीं होती। प्रतीकों और अतिशयोक्तियों से भरा हुआ पांडित्य-प्रदर्शन नहीं होता। जो कुछ होता है वह सहज ही होता है। धर्म की शुद्धता इसी में है

कि उसमें अटकलपच्चू कपोलकल्पनाएं नहीं होतीं। जो कुछ है है यथार्थ ही होता है। धर्म कोरा-मोरा सिद्धांत निरूपण नहीं होत स्वयं साक्षात्कार, स्वयं अनुभव करने के लिए होता है। धर्म राजम की तरह ऋजु होता है। उसमें अंधी गलियों जैसी भूल-भुलै नहीं होती। धर्म यहीं इसी जीवन में लाभ देने वाला होता जितना-जितना पालन किया जाय, उतना-उतना लाभ देता धर्म आदि, मध्य, अंत हर अवस्था में कल्याणकारी ही ह है। धर्म सर्वसाधारण के लिए समान रूप से ग्रहण करने य होता है। ऐसा हो तो ही धर्म यथार्थ है, शुक्ल है, शुद्ध अन्यथा धर्म के नाम पर कोई धोखा हो सकता है।

शुद्ध धर्म क्या है?

वाणी के कर्म, शरीर के कर्म, आजीविका, मानसिक स्वस्थ का अभ्यास, जागरूकता का अभ्यास, एकाग्रता का अभ्यास हो, मानसिक चिंतन और जीवन-जगत के प्रति दृष्टिकोण भी हो। यही शुद्ध धर्म है।

मोटे-मोटे तौर पर कह सकते हैं–

(1) **दान**–अहंकारविहीन अपरिग्रह हेतु दिया गया दान धर्म है।

(2) **शील**–सदाचार का पालन करना, हिंसा, चोरी, व्यभि मिथ्या-भाषण और नशे के सेवन से विरत शुद्ध धर्म है।

(3) **समाधि**–मन को वश में करना, उसे एकाग्र कर वर्तमान के प्रति सजग रहने का अभ्यास शुद्ध धर्म है।

(4) **प्रज्ञा**–'मैं' 'मेरे' अथवा प्रिय-अप्रियमूलक राग-द्वेष से रहित होकर हर व्यक्ति, वस्तु और स्थिति को जैसी है वैसी यथाभूत प्रज्ञापूर्वक देखने का अभ्यास चित्त की समता का अभ्यास, शुद्ध धर्म है।

दान, शील, समाधि और प्रज्ञा के ये चारों अभ्यास सार्वजनीन हैं, साम्प्रदायिकता-विहीन हैं, सर्वजनहितकारी हैं, सर्वग्राह्य हैं। इसीलिए छिलकों से परे शुद्ध धर्म है। परंतु ऐसे शुद्ध धर्म का अभ्यास न कर, चाहें कि हम धार्मिक हों और उससे भी अधिक यह चाहें कि लोग हमें धार्मिक मानें, तो धर्म के नाम पर विज्ञापनबाजी ही करते हैं। नाना प्रकार के बाह्याचार करते हैं। नाना प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद करते हैं, वाणी-विलास और बुद्धि-विलास करते हैं, और इस प्रकार आत्म-प्रवंचना, जग-प्रवंचना के जंजाल में बुरी तरह जकड़ते जाते हैं। न आत्महित सधता है, न परहित।

आत्महित और परहित के लिए शुद्ध धर्म का जीवन जीना अनिवार्य है। शुद्ध धर्म का जीवन जीने के लिए धर्म की शुद्धता को जानना अनिवार्य है। धान को भूसे से, सार को छिलके से अलग करना अनिवार्य है। सार को महत्त्व देना सीखेंगे तो ही सार ग्रहण किया जा सकेगा।

शुद्ध धर्म का सार नहीं ग्रहण करेंगे तो द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य, दुराग्रह, अभिनिवेश, हठधर्मिता, पक्षपात, संकीर्णता, कट्टरता, भय,

आशंका, अविश्वास, आलस, प्रमाद, कठमुल्लेपन से भरा हुआ जीवन निस्तेज, निष्प्राण, निरुत्साही ही होगा; कुत्सित, कलुषित, कुटिल ही होगा; व्याकुल, व्यथित, व्यग्र ही होगा। शुद्ध धर्म का सार ग्रहण कर लेंगे तो प्यार और करुणा, स्नेह और सद्भाव, त्याग और बलिदान, सहयोग और सहकार, श्रद्धा और विश्वास, अभ्युदय और विकास से भरा हुआ जीवन ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी ही होगा; उदात्त, अभय, अचिंत्य ही होगा; सहज, सरल, स्वच्छ ही होगा; मंगल, कल्याण, स्वस्ति से भरपूर ही होगा।

शुद्ध धर्म का यही प्रत्यक्ष लाभ है। प्रत्यक्ष लाभ ही शुद्ध धर्म के सार की सही कसौटी है। ★

धर्म न मिथ्याचार

धर्म न मिथ्या रूढ़ियां, धर्म न मिथ्याचार।
धर्म न मिथ्या मान्यता, धर्म सत्य का सार॥
जटा-जूट माला तिलक, हुए शीश के भार।
भेष बदल कर क्या मिला? अपना चित्त सुधार॥
कर्मकांड ना धर्म है, धर्म न बाह्याचार।
धर्म चित्त की शुद्धता, सेवा, करुणा, प्यार॥
गुण तो धारण ना किया, रहे नवाते माथ।
बहा धर्म रस, रह गया फूटा बर्तन हाथ॥
अन्तर में जागे धरम, दुर्गुण होवें दूर।
सदगुण से, सद्भाव से, रहे हृदय भरपूर॥
भीतर बाहर स्वच्छ हों, करें स्वच्छ व्यवहार।
सत्य, प्रेम, करुणा जगे, यही धर्म का सार॥

4. धर्म धारण करें

धर्म धारण करने में ही सच्चा कल्याण है।

धर्मचर्चा करनी कभी लाभप्रद हो सकती है, कभी लाभप्र नहीं हो सकती और कभी हानिप्रद भी हो सकती है।

धर्मचिंतन करना कभी लाभप्रद हो सकता है, कभी लाभप्र नहीं हो सकता और कभी हानिप्रद भी हो सकता है।

परंतु धर्म धारण करना तो सदैव लाभप्रद होता है।

धर्मचर्चा करके धर्म के बारे में श्रुत-ज्ञान प्राप्त किया जात है। यह हमें प्रेरणा और मार्गदर्शन दे और फलतः हम धर्म धार कर लें तो धर्मचर्चा हमारे लाभ का कारण बनती है। परंतु ज इससे हम केवल बुद्धिविलास करके ही रह जायँ तो धर्मच हमारे लिए लाभप्रद नहीं होती। जब यही श्रुत-ज्ञान हममें ज्ञान होने का मिथ्या दंभ पैदा कर दे तो धर्मचर्चा हमारी हानि क कारण बन जाती है।

यही बात धर्मचिंतन की है। धर्म का चिंतन-मनन बौद्धि ज्ञान पैदा करके निरर्थक बुद्धिविलास का कारण बनता है। अथ

थोथा दंभ पैदा करके हानि का कारण बनता है। परंतु जब यही चिंतन-ज्ञान धर्म धारण करने की प्रेरणा पैदा करे, मार्गदर्शन दे और फलतः हम धर्म धारण कर लें तो कल्याण का कारण बन जाता है।

वास्तविक कल्याण तो धर्म धारण करने में ही है। मिथ्या बुद्धिविलास में नहीं। मिथ्या दंभ में नहीं।

अतः साधको, आओ! धर्म धारण करें! धर्म धारण कर स्वयं शीलवान बनें! समाधिवान बनें! प्रज्ञावान बनें!

यही मंगल मूल है। ★

धारण करना धर्म है

जीवन में धारण किए, धर्म होय फलवंत।
बिन औषधि सेवन किए, कहां रोग का अंत?
जाने समझे धर्म को, पर न करे व्यवहार।
वृथा बोझ ढोता फिरे, कैसा मूढ़ गंवार॥
धारण करना धर्म है, वरना कोरी बात।
सूरज उगे प्रभात है, वरना काली रात॥
धर्म धार निर्मल बने, राजा हो या रंक।
रोग, शोक, चिंता मिटे, निर्भय होय निशंक॥
शुद्ध धर्म धारण करें, करें दूर अभिमान।
मिले अमित संतोष सुख, धर्म सुखों की खान॥
धारण कर ले बावरे, बिन धारे नहिं त्राण।
योग-क्षेम दातार है, धर्म बड़ा बलवान॥

5. बुद्धिविलास धर्म नहीं है

चिंतन-मनन द्वारा धर्म की सैद्धांतिक जानकारी कर लेने मात्र से हमारा वास्तविक लाभ नहीं होता। यह जान और समझ लेने मात्र से कि रसगुल्ला मीठा है, हमारा मुँह मीठा नहीं हो सकता। उसके लिए हमें रसगुल्ला जीभ पर धरना ही होता है। केवल यह जान और समझ लेने से कि दूध पुष्टिकारक है, हमारी देह पुष्ट नहीं हो जाती। उसके लिए तो हमें दूध पीना ही होता है। जानना और समझ लेना हमारे कल्याण की पहली सीढ़ियां हैं। परंतु केवल जान और समझकर ही रुक जायँ और जानी-समझी बात को जीवन में न उतारें तो ऐसा जानना-समझना व्यर्थ गया। कोरा बुद्धिविलास, कोरी दिमागी कसरत हुई। और यही तो हम करते हैं।

धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के ऊहापोह, वाद-विवाद, चर्चा-परिचर्चा, बहस-मुबाहिसा, खंडन-मंडन, तर्क-वितर्क, व्यंजना-विश्लेषण, समझने-समझाने, सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने, लिखने-लिखाने और बोलने-बतलाने में ही हम अपना सारा जीवन बिता देते हैं और दुर्भाग्य यह है कि इसी में अपने जीवन की सफलता मानते हैं।

अजीब सन्तोष होता है हमें अपनी धर्म-जिज्ञासा पूरी कर लेने में तथा बौद्धिक स्तर पर जाने हुए उस धर्म-ज्ञान को लच्छेदार भाषा में व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेने में। इस आत्म-संतुष्टि को ही हमने जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान लिया है। सचमुच, कैसा आकर्षक है यह मृगजाल, जिसमें कि हम इतनी आसानी से फँस जाते हैं और फिर इस बंधन को ही आभूषण मानकर गर्व अनुभव करते हैं।

★

चाख धर्म का स्वाद

मत कर, मत कर, बावला, मत कर वाद-विवाद।
खाल बाल की खींच मत, चाख धर्म का स्वाद॥
कितने दिन यूं ही गए, करते बुद्धि-विलास।
धर्म स्वाद चाखा नहीं, बुझी न मन की प्यास॥
चर्चा ही चर्चा करे, धारण करे न कोय।
धर्म बिचारा क्या करे? धारे ही सुख होय॥
यही धर्म का नियम है, यही धर्म की रीत।
धारे ही निर्मल बने, पावन बने पुनीत॥
जीवन सारा खो दिया, ग्रंथ पढ़ंत पढ़ंत।
तोते मैना की तरह, नाम रटंत रटंत॥
मानव जीवन रतन सा, किया व्यर्थ बरबाद।
चर्चा कर ली धर्म की, चाख न पाया स्वाद॥

6. धर्म का सही मूल्यांकन

धर्म का सही मूल्यांकन करना सीखें। यदि सह मूल्यांकन करते रहेंगे तो दृष्टि सम्यक रहेगी, नीर-क्षी विभाजन-विवेक कायम रहेगा, धर्म-पथ पर अपना संतुलन बना रख सकेंगे। अन्यथा धर्म का कोई एक अंग आवश्यकता से अधि महत्त्व पाकर धर्म-शरीर की सर्वांगीण उन्नति में बाधक बन जायेगा सम्यक् दृष्टि यही है कि जिसका जितना मूल्य है उसको उत ही महत्त्व दें। न अधिक, न कम। कंकड़-पत्थर, कांच, हीर मोती, नीलम, मणि सबका अपना-अपना महत्त्व है। मिट्टी, लोह तांबा, पीतल, चांदी, सोना, सबका अलग-अलग मूल्य है। जिसक जितना महत्त्व है उसका उतना ही मूल्य है। लोकीय क्षेत्र में कां और हीरे का, मिट्टी और सोने का एक जैसा मूल्यांकन न किया जाता। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में सब धान पांच-पसे नहीं तोले जाने चाहिए। टके सेर भाजी, टके सेर खाजा अविवेकी मूल्यांकन नहीं होना चाहिए। अन्यथा या तो कि निस्सार छिलके को ही धर्म मान बैठेंगे अथवा धर्म के कि नन्हे से प्राथमिक कदम को ही सब कुछ मानकर शुद्ध धर्म उच्चतम अवस्थाएं कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

मसलन, दान देना अच्छा है। धर्म का एक अंग है। परंतु धर्म की कसौटी पर दान का भी अलग-अलग मूल्यांकन होना चाहिए। वित्तीय नहीं, नैतिक। दान अधिक है या कम इसका कोई महत्त्व नहीं होता। परंतु देते समय चित्त की चेतना कैसी है, यही ध्यान देने की बात है। यदि उस समय चित्त में क्रोध, या चिड़चिड़ाहट या घृणा या द्वेष या भय या आतंक या बदले में कुछ प्राप्त करने की तीव्र लालसा है या यश की प्रबल कामना है अथवा प्रतिस्पर्धा का उत्कट भाव है तो ऐसा दान शुद्ध, निष्काम, निरहंकार चित्त से दिये गए दान की अपेक्षा बहुत हल्का है। भले मात्रा में अधिक क्यों न हो। शुद्ध चित्त से दिये गए दान का अधिक महत्त्व है। इससे अपरिग्रह और त्याग धर्म पुष्ट होता है। पर इसके महत्त्व की भी अतिरंजना कर इसे ही सब कुछ मान बैठें तो धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना होगी और वे कमजोर रह जाएंगे।

इसी प्रकार उपवास भी धर्म का एक अंग है। हम उपवास द्वारा शरीर को स्वस्थ रखते हैं। स्वस्थ शरीर से ही धर्म का सुगमतापूर्वक पालन किया जा सकता है। शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त मानसिक संयम के लिए भी उपवास उपयोगी है। उपवास करें और मन भिन्न-भिन्न पकवानों में रमता रहे तो ऐसा उपवास हीन कोटि का होगा। उपवास करें और केवल शरीर को ही नहीं, बल्कि मन को भी संयमित करें तो उपवास उच्च कोटि का होगा। हीन कोटि की तो बात ही क्या, उच्च कोटि के उपवास का भी अतिरंजित मूल्यांकन कर उसे ही सब कुछ मान

बैठेंगे तो अहंभाव के शिकार हो जाएंगे और धर्म के उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण अंग अछूते या कमजोर रह जाएंगे। उनका अभ्यास करना तो दूर की बात रही, उन्हें पुष्ट करने की बात भी हम कभी नहीं सोचेंगे।

उपवास करने वाला शील-सदाचार के क्षेत्र में दुर्बल हो तो उपवास करने वाले शीलवान व्यक्ति से हीन है। इसी प्रकार सामिष भोजन से निरामिष भोजन, चटपटे मिर्च-मसाले वाले राजसी भोजन से सादा सात्विक भोजन करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है, उत्तम है। परंतु सात्विक निरामिष भोजन करने वाला व्यक्ति इसी एक गुण के कारण अपने आपको अन्य सभी से श्रेष्ठ मानने लगे तो मिथ्या अहं के कारण शुद्ध धर्म के उन्नतिपथ से भटक जायेगा। भोजन में मात्रज्ञ और गुणज्ञ होना, यानी उतना ही और वैसा ही भोजन करना जितना और जैसा कि हमारे शरीर के लिए उपयोगी और आवश्यक है–धर्म का एक अच्छा अंग है। परंतु धर्म के उससे भी अच्छे और ऊंचे अंग हैं, ऐसा नहीं जानेंगे तो उनसे वंचित रह जाएंगे।

अपना अधिकांश समय आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा में गंवाने वाले व्यक्ति की अपेक्षा यथावश्यक कम से कम समय सोकर, अधिक से अधिक समय जागरूक रहने वाला व्यक्ति निश्चितरूप से अधिक अच्छा है। परंतु ऐसे व्यक्ति को भी धर्म-पथ की आगे की बहुत सी मंजिलें प्राप्त करनी होती हैं, इसे वह न भूल जाय।

टहलना, दौड़ना, तैरना, व्यायाम करना और इसी तरह आसन प्राणायाम करना, शरीर को स्वस्थ और फुरतीला बनाए रखने के

लिए आवश्यक है, लाभदायक है। इसी प्रकार रोज नहाना, शरीर को स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना अच्छा है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में इनका अपना महत्त्व है, अपना मूल्य है। परंतु केवल इन्हीं को संपूर्ण धर्म मान बैठें और शरीर की बाहरी सफाई में ही लगे रह कर भीतरी सफाई रोक दें तो अपनी हानि ही होगी।

कोई व्रत पालन करता है तो इसलिए कि मन संयमित, निगृहीत, सबल, सुदृढ़ हो, धर्म मार्ग पर अविचल आरूढ़ हो। परंतु इन व्रतों को ही सब कुछ मान बैठें तो ये ही बंधन बन जायेंगे। कोई माला फेरता है और मन ही मन किसी मंत्र का जाप करता है तो मन को एकाग्र करने के लिए ही। परंतु मन की एकाग्रता का जरा भी अभ्यास करें नहीं और यन्त्रवत माला फेरने और मंत्र जपने की रूढ़ि को ही धर्म मान बैठना भटकाव है।

कोई मंदिर जाकर अपने उपास्य देव की मूर्ति के दर्शन करता है। इससे उसके मन में श्रद्धा जागती है। श्रद्धा से मन में सौमनस्य जागता है। सौमनस्य चित्त को एकाग्र करने में सहायक होता है। अपने उपास्य देव की मूर्ति खुली आंखों से देखता है और फिर आंख मूंद कर बार-बार उसका ध्यान करता है। इस अभ्यास द्वारा वह आकृति बंद आंखों के सामने भी आने लगती है। इस प्रकार चित्त को एकाग्र करने का एक साधन प्राप्त हो जाता है। आकृति का ध्यान करते-करते अपने उपास्य देव के गुणों का ध्यान करने लगता है और उन गुणों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करने लगता है। यह सचमुच कल्याणकारी है। परंतु यह सब तो करे नहीं, केवल मंदिर जाने और मूर्ति के

सामने यंत्रवत सिर झुकाने को ही संपूर्ण धर्म मान लें तो वह गलत मूल्यांकन के कारण रूढ़ियों में उलझना है।

इसी प्रकार भजन-कीर्तन तल्लीनता के लिए हैं। चित्त को एकाग्र करने के साधन हैं। परंतु इन्हें इससे अधिक कुछ और मानने लगें तो फिर भुलावे में पड़ जाते हैं। किसी गुरु या संत का दर्शन, उसको किया गया नमन, उसके प्रति श्रद्धा जगाने के लिए हैं। उसके गुणों को देखकर मन में प्रेरणा जगाएं और वे गुण स्वयं धारण करें, इसी निमित्त हैं। परंतु इसका इससे अधिक मूल्यांकन करने लगते हैं तो विवेक खो बैठते हैं और अंधश्रद्धा के कारण बुद्धि जड़ होने लगती है। किसी धर्मग्रंथ का पाठ करते हैं, अथवा श्रवण करते हैं तो इसलिए कि उससे हमें प्रेरणा मिले, मार्गदर्शन मिले, जिससे कि धर्म जीवन में उतार सकें। परंतु इसे भुलाकर केवल श्रवण, पठन को ही सब कुछ मान लेते हैं तो गाड़ी फिर मिथ्यादृष्टि के दलदल में धंस जाती है।

कोरा वाणीविलास और बुद्धिविलास धर्म नहीं है। जीवन में उतरा हुआ शील-सदाचार ही धर्म है। शील-सदाचार की भी अलग-अलग श्रेणियां हैं। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य और अप्रमाद–इन शीलों में से कोई एक, कोई दो, कोई तीन, कोई चार अथवा कोई पांचों का पालन करता है तो एक से दूसरा क्रमशः अधिक धार्मिक है। इनमें भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट शील का पालन इसलिए कर पा रहा है कि जिस परिस्थिति और परिवेश में वह जन्मा, पला और रहता है वह उस शील पालन के अनुकूल है। दूसरा व्यक्ति नितांत प्रतिकूल परिस्थि

में भी उस शील का पालन करता है, मन को वश में रखता है तो यह दूसरा व्यक्ति पहले से अधिक श्रेष्ठ है।

मन को वश में करना धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। यही समाधि है। परंतु एक व्यक्ति समाधि हासिल करने के लिए जिस आलंबन का प्रयोग करता है, वह राग, द्वेष या मोह बढ़ाने वाला हो तो वह व्यक्ति दूषित चित्त से समाधिस्थ होता है। दूसरा व्यक्ति ऐसे आलंबन अपनाता है जो कि राग, द्वेष और मोह को क्षीण करने वाले हैं, तो पहले की अपेक्षा यह दूसरा व्यक्ति अधिक उत्तम है। दूषित चित्त की एकाग्रता द्वारा मनोबल प्राप्त करके भी अनेक प्रकार की ऋद्धियां-सिद्धियां हासिल की जा सकती हैं। इनके बल पर सामान्य लोगों को चकाचौंध कर देने वाले चमत्कार प्रदर्शित किये जा सकते हैं। परंतु इसे धर्म मान लेना खतरनाक है। यह आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति ने सिद्धियां प्राप्त कर लीं, वह धर्मवान हो। अनेक दु:शील व्यक्ति चमत्कार प्रदर्शित करते हुए देखे जाते हैं। अतः चमत्कारों के आधार पर धर्म का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। करते हैं तो मूल्यांकन गलत होता है। समाधि के साथ शील की भूमिका अनिवार्य है।

शुद्ध समाधि के मार्ग पर भी विभिन्न उपलब्धियां होती हैं। कभी हम लगातार तीन घण्टे एक आसन पर बैठे रह जाते हैं। परंतु आसन-सिद्धि साधना का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। इसी प्रकार एकाग्रता के अभ्यास के दौरान कभी-कभी बंद आंखों के सामने हम प्रकाश, ज्योति, रूप, रंग, आकृतियां, दृश्य आदि देखने लगते हैं। कभी-कभी कानों से कोई अपूर्व शब्द सुनते हैं, नाक से

कोई अपूर्व गंध सूंघते हैं, जीभ से कोई अपूर्व रस चखते है शरीर से किसी अपूर्व स्पर्श का अनुभव करते हैं और इन भिन्न भिन्न अतींद्रिय अनुभूतियों को दिव्य ज्योति, दिव्य शब्द, दि गंध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श कह कर इनको आवश्यकत से अधिक महत्त्व देने लगते हैं तो भटक ही जाते हैं। इसी प्रक समाधि का अभ्यास करते हुए कभी सांस सूक्ष्म होते-हो अनायास रुक जाती है। स्वत: कुंभक होने लगता है। अभ्या करते-करते विचारों और वितर्कों का तांता मंद पड़ने लगता और कभी निर्विचार, निर्विकल्प अवस्था आ जाती है एकाग्रता बढ़ती है तो भीतर प्रीति-प्रमोद जागता है। आनंद व लहरें उठने लगती हैं। मन और शरीर रोमांच पुलक से भर जा है। बहुत हल्कापन महसूस होता है। परंतु इन भिन्न भिन्न प्रिय अनुभूतियों को ही सब कुछ मानकर इनक अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या करने लगें तो भी भटक जाते हैं। अनुभूतियां इस लंबे मार्ग पर मील के पत्थरों जैसी हैं। इन से किसी के साथ चिपक जायँ तो वह पत्थर गले का भार ब जाता है। आगे बढ़ना मुश्किल कर देता है। ये अनुभूति धर्मशालाएं जैसी हैं। इनमें से किसी को अंतिम लक्ष्य मान उसमें टिक जायँ तो आगे के रास्ते पर चलना ही नहीं हो सकत यात्रा बंद हो जाती है। पहले से लेकर आठवें ध्यान तक सभी समाधियां एक से एक अधिक उन्नत हैं। परंतु अ ध्यानों में पारंगत हो जाने पर भी आध्यात्मिक क्षेत्र संपूर्णता नहीं मानी जाती। आठों समाधि समापत्तियों की स

अनुभूति करने वाले साधक को भी प्रज्ञावान होना नितान्त आवश्यक है।

प्रज्ञावान प्रज्ञावान में भी भेद हैं। कोई प्रज्ञावान ऐसा है जिसने श्रुतमयी प्रज्ञा हासिल की है; यानी पढ़-सुनकर प्रज्ञा की जानकारी प्राप्त की है। दूसरा ऐसा है जिसने चिंतनमयी प्रज्ञा भी हासिल की है यानी जो पढ़ा-सुना उसे चिंतन-मनन द्वारा बुद्धि की कसौटी पर कसकर युक्तिसंगत मानकर ही स्वीकार किया है। पहले से दूसरा प्रज्ञावान निश्चित रूप से उत्तम है। परंतु पहले और दूसरे से वह तीसरा प्रज्ञावान कहीं अधिक उत्तम है जो कि भावनामयी प्रज्ञा हासिल करता है; यानी प्रत्यक्ष अनुभूतियों के बल पर स्वयं अपनी प्रज्ञा जगाता है।

हमने अपनी भावनामयी प्रज्ञा जागृत की है अथवा परायी प्रज्ञा के बल पर केवल बुद्धिरंजन किया है, इसकी स्वयं जांच करते रहना चाहिए। प्रज्ञा के नाम पर यदि केवल बुद्धिरंजन हुआ होगा तो जीवन की विषम परिस्थितियों में मन उत्तेजित, उद्वेलित हुए बिना नहीं रहेगा। भावनामयी प्रज्ञा का जितना अभाव होगा, मानसिक असमता उतनी ही अधिक होगी। भावनामयी प्रज्ञा के बल पर जो व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, जैसी है उसको जब हम वैसे ही, उसके सही स्वरूप में और उसके सही गुण-धर्म-स्वभाव में देखते हैं तो अपने मन का संतुलन बिगड़ने नहीं देते। अंतर्मन में समाई हुई दौर्मनस्य की विभिन्न ग्रंथियां स्वतः खुलने लगती हैं। चित्त के दूषण दूर होते हैं। उसमें निर्मलता आती है। निर्मलता आती है तभी संकीर्णता के स्थान पर उदारता, दुर्भावना के स्थान

पर सद्भावना, द्वेष के स्थान पर प्यार, ईर्ष्या के स्थान पर मोद और वैर के स्थान पर मैत्री जागती है। ये सारे सद्गुण जीवन में आ रहे हैं या नहीं? हमारे रोजमर्रा के व्यवहार में प्रकट हो रहे हैं या नहीं? इसी मापदण्ड से धर्म के क्षेत्र में हम अपनी उन्नति को मापें। जैसे-जैसे प्रज्ञा में स्थित होते जाएंगे वैसे-वैसे स्वभाव से शील पुष्ट और समाधि सुदृढ़ होती जायेगी। मन वश में रहने लगेगा। सदाचार जीवन का सहज-स्वभाव बन जायेगा। उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। अपने अंधे स्वार्थ के लिए औरों की हानि करने की संकीर्ण बुद्धि दूर होगी। अपने सुख-साधन औरों में बांट-कर भागीदारी बनाने की दानवृत्ति सहजभाव से जीवन का अंग बन जाएगी। इस प्रकार जैसे-जैसे धर्म की सर्वांगीण पुष्टि होने लगेगी, वैसे-वैसे अनेक रूढ़ियां जो कभी धर्म-साधन के रूप में प्राप्त हुई थीं और जिन्हें कि नासमझी के कारण हमने सिद्धि मानकर छाती से चिपका लिया था, वह सांप की केंचुली की तरह बिना किसी कष्ट और प्रयास के अपने आप छूटती चली जायेंगी। और जो नई त्वचा आयेगी वह निष्प्राण नहीं बल्कि सजीव धर्म से ऊर्मिल होकर आएगी।

त्वचा का अपना महत्त्व है। परंतु निष्प्राण हो जाय तो भी उसे चिपकाए रखना नासमझी है। छिलकों का अपना महत्त्व है। परंतु उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाय तो भी मोहवश उन्हें चिपकाए रखना नासमसझी है। शुद्ध प्रज्ञा पुष्ट होती है तो हर वस्तु का उचित ही मूल्यांकन होता है। लुभावने तर्कजाल से प्रभावित होकर किसी उपयोगी वस्तु को नष्ट नहीं कर देते और न ही परंपराओं

के प्रति भावावेशमयी आसक्तियों के कारण किसी निकम्मी वस्तु को गले से लगाए रखते हैं। पुष्ट हुई प्रज्ञा से ऐसा विशुद्ध विवेक जागता है जिसमें न थोथा तर्कजाल टिक सकता है और न अंध भावावेश। धर्म के प्रत्येक अंग का सही-सही मूल्यांकन होने के कारण धर्म का सर्वांगीण और समुचित विकास होने लगता है।

सर्वांगीण और समुचित विकास न हो तो हम अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं। शरीर का कोई एक ही अंग जरूरत से ज्यादा विकसित हो जाय और बाकी सारा शरीर अविकसित रह जाय तो सारे शरीर के साथ-साथ वह विकसित अंग भी रोगी ही माना जाता है। इसी प्रकार धर्म-शरीर का भी कोई एक अंग इतना अधिक विकसित हो जाय कि अन्य सभी अंगों के विकास में रुकावट पैदा कर दे तो संपूर्ण धर्म-शरीर तो रोगी हो ही जाता है वह अंग-विशेष भी रुग्ण ही माना जाता है। अतः समग्र धर्म-शरीर को स्वस्थ सबल रखने के लिए आवश्यक है कि धर्म के सभी अंगों का समुचित विकास हो। इस निमित्त सभी अंगों का विवेकपूर्वक समुचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है।

माला, तिलक जैसे बाह्याडंबर, नदी-स्नान, तीर्थाटन जैसे बाह्य कर्मकांड अथवा आत्मवाद-अनात्मवाद जैसी बुद्धिरंजनीय दार्शनिक मान्यताओं आदि की तो बात ही क्या, यदि हम एक अच्छे व्रत का पालन करते हुए अथवा किसी शील का पालन करते हुए उसकी भी अतिरंजना करने लगें तथा शुद्ध धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना करते हुए उसी से परामर्श यानी चिपकाव करने लगें तो यही शील-व्रत परामर्श हमारे लिए भयंकर रोग

साबित हो जाय। इससे बचने के लिए और शुद्ध धर्म के सर्वांगीण और समुचित विकास के लिए हर बात का सही-सही उचित-उचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है। धर्ममय मंगल-जीवन की यही कल्याण कुंजी है। ★

जो धारे सो पाय

धर्म न तर्क-वितर्क है, धर्म न वाद-विवाद।
विरज विमल चैतन्य का, धर्म पुनीत प्रसाद॥
शुद्ध धर्म पालन करें, प्रज्ञा जगे विशुद्ध।
नीर क्षीर के भेद का, रहे विवेक प्रबुद्ध॥
शुद्ध धर्म का होय जब, सर्वांगीण विकास।
तो सदगुण सदभाव का, उजला होय उजास॥
धर्म न मंदिर में मिले, धर्म न हाट बिकाय।
धर्म न ग्रन्थों में मिले, जो धारे सो पाय॥
मंदिर मंदिर डोलते, वृद्ध हो गया छैल।
पग की पगतरियां घिसीं, घिसा न मन का मैल॥
मंदिर मसजिद भटकते, किसे मिला भगवान?
सेवा करुणा प्यार से, स्वयं बनें भगवान॥

7. सही कुशल!

सही कुशल किस बात में है?

सही कुशल अपने मन को स्वच्छ, साफ रखने में है। उसे मंगल-मैत्री से भरे रखने में है।

जब हम द्वेष-दौर्मनस्य से भर उठते हैं और कड़वे, कठोर वचन बोलते हैं, तब अपने मन की स्वच्छता खो बैठते हैं। और जब मन की स्वच्छता खो बैठते हैं, तब सुख-शांति खो बैठते हैं।

जब हम स्नेह-सौमनस्य से भर उठते हैं, और मधुर मीठे वचन बोलते हैं, तब अपने मन के मैल से मुक्त रहते हैं। और जब मन के मैल से मुक्त रहते हैं; तब सुख-शांति प्राप्त करते हैं।

दुर्मन मन औरों को भी दुखी बनाता है। किसी-किसी अवस्था में औरों को दुखी नहीं भी बना पाए, परंतु सभी अवस्थाओं में अपने आपको तो दुखी बनाता ही है। जब-जब मन द्वेष-दुर्भावनाओं से दुर्मन हो उठता है, तब-तब अनिवार्य रूप से स्वयं बेचैन हो ही उठता है।

सुमन मन औरों को सुखी बनाता है। किसी-किसी अवस्था में औरों को सुखी नहीं भी बना पाये, परंतु सभी अवस्थाओं में अपने आपको तो सुखी बनाता ही है। जब-जब मन स्नेह-सद्भावनाओं से सुमन हो उठता है; तब-तब अनिवार्य रूप से स्वयं शांति-चैन भोगता ही है।

सौमनस्य से भरा हुआ मन स्वयं सुखी रहता है। दौर्मनस्य से भरा हुआ मन स्वयं दुखी रहता है। यह प्रकृति का अटूट नियम है। यह ऋत है। यह धर्मनियामकता है।

साधको! प्रकृति के अटूट नियम के प्रति, इस ऋत, इस धर्मनियामकता के प्रति सतत जागरूक रहें और अपने मन को सौमनस्य से भरने तथा दौर्मनस्य से दूर रखने का प्रयास करते रहें।

इसी में अपना सही कुशल है। इसी में अपना वास्तविक मंगल है। ★

मन मानस लहराय

द्वेष और दुर्भाव से, आकुल-व्याकुल होय।
स्नेह और सदभाव से, हर्षित पुलकित होय।।
निर्धन या धनवान हो, अनपढ़ या विद्वान।
जिसने मन मैला किया, उसके व्याकुल प्राण।।
मन ही दुर्जन, मन सुजन, मन बैरी मन मीत।
जीवन में मंगल जगे, जब मन होय पुनीत।।
मन बंधन का मूल है, मन ही मुक्ति उपाय।
विकृत मन जकड़ा रहे, निर्विकार खुल जाय।।
अपना सुधरा चित्त ही, आए अपने काम।
जो सुख चाहे मानवी, मन पर राख लगाम।।
चित्त हमारा शुद्ध हो, सदगुण से भर जाय।
करुणा मैत्री प्यार से, मन मानस लहराय।।

८. समता-धर्म

समता धर्म है। विषमता अधर्म। समता अनासक्ति है। विषमता आसक्ति। जहां आसक्ति है वहां दुख है। जहां अनासक्ति है वहीं सच्चा सुख, सच्ची शांति है।

विपश्यना साधना द्वारा हम देखते हैं कि शरीर पर आधारित इस चित्तधारा में विविध कारणों से समय-समय पर सुखद और दुखद दोनों ही प्रकार की संवेदनाएं प्रकट होती रहती हैं। सुखद संवेदना हमें प्रिय लगती है और उसके प्रति राग पैदा होता है। परिणामत: उसे बनाये रखने के लिए आतुर रहते हैं। वह छूट न जाय, इसलिए आशंकित-आतंकित हो उठते हैं। असुरक्षितता की बेचैनी महसूस करने लगते हैं। परंतु प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के कारण यह सुखद संवेदना नष्ट होती ही है। और जब दुखद संवेदना प्रकट होती है तो उसके प्रति द्वेष जागता है। उसे दूर करने के लिए आतुर हो उठते हैं। क्या कभी यह दूर नहीं होगी? इस भय-आशंका से आतंकित हो उठते हैं। फिर असुरक्षा की बैचेनी में जकड़ जाते हैं। दोनों ही अवस्था में अशांत, बेचैन रहते हैं। राग और द्वेष से आसक्ति जागती है। असुरक्षा की भावना

जागती है। मन अपना संतुलन खो बैठता है। यही विषमता है
सुखद-दुखद स्थितियों के रहते भी मन राग-द्वेष से विहीन र
तभी अनासक्त रहता है। सुरक्षितता महसूस करता है। संतुल
नहीं खोता। शांत रहता है।

सुखद-दुखद स्थिति के प्रति पूर्ण संवेदनशील और जागरूक
रहकर भी अविचलित रहना ही समता है। समता चट्टानी जड़त
नहीं है। मरघट की शांति नहीं है। जहां चित्त को उत्तेजित कर
वाले आलंबन-उद्दीपन ही न हों, वहां समता सही समता है य
कैसे कहा जा सकता है? जहां उत्तेजित करने वाले आलंबन-उद्दीप
हों तो भी, उत्तेजित हो सकने वाला चित्त ही सुषुप्त हो, व
भी समता सही समता है यह कैसे कहा जा सकता है? सम
नकारात्मक नहीं है; मूढ़ता, मूर्च्छा, कुंठा नहीं है। कोई हमें भा
की तरह काट जाय और हमें पता ही न चले, ऐसी अचेत
अवस्था नहीं। यह कोई एनस्थीसिया की सूंघनी या मार्फिन
इंजेक्शन नहीं है। पूर्ण चेतन रहें, फिर भी सम रहें तो ही सम
है अन्यथा गहरी नींद में सोने वाला अथवा मूर्च्छित अथवा म
व्यक्ति समता का दंभ भर सकता है।

सुखद से प्रफुल्लित हो उठना और दुखद से मुरझा ज
ही वैषम्य है। दोनों के रहते संतुलित-समरस रहना समता
परंतु समता हमें अशक्त और कर्मशून्य नहीं बनाती। सच्ची सम
आती है तो प्रवृत्ति जागती है। ऐसी प्रवृत्ति परम पुरुषार्थ
रूप धारण करती है। परम पुरुषार्थ में अपने-पराए का भेद
रहता है। ऐसी पुरुषार्थ-प्रदायिनी समता जितनी सबल होती

जीवन में उतना मंगल उतरता है। आत्म-मंगल भी, जन-मंगल भी। समता जितनी दुर्बल होती है उतना ही अनर्थ होता है, अपना भी, औरों का भी।

समता-धर्म जीवन-जगत से दूर भागना नहीं है। पलायन नहीं है। जीवन-विमुख होना नहीं है। समता-धर्म जीवन-अभिमुख होकर जीना है। जीवन से दूर भागकर आखिर कहां जाएंगे? विषयों से दूर भागकर कहां जाएंगे? सारा संसार विषयों से भरा पड़ा है। विषय हमारा क्या बिगाड़ते हैं? वे न हमारे शत्रु हैं, न मित्र। न भले हैं, न बुरे। भला-बुरा है उनके प्रति हमारा अपना दृष्टिकोण। अनासक्त अथवा आसक्त दृष्टिकोण। सम अथवा विषम दृष्टिकोण। यदि हम विषयों से दूर भागने के बजाय उनसे उत्पन्न होने वाले विकारों को समता से यानी अनासक्ति से देखना सीख जाएं तो उन विषयों के रहते हुए भी विकारों को निस्तेज कर लेंगे। समता से देखना ही विशेषरूप से देखना है। प्रज्ञापूर्वक देखना है। सम्यक दृष्टि से देखना है। यही विदर्शना है, यही विपश्यना है। समतामयी विपश्यना की दृष्टि प्राप्त होती है तो ''मैं-मेरे'' का और ''राग-द्वेष'' का कोहरा दूर होता है। जो जैसा है, वैसा ही दीखता है। और तब हम अंध प्रतिक्रिया करना छोड़ देते हैं। समता की सुदृढ़ भूमि पर स्थिर होकर हम जो कुछ करते हैं, वह शुद्ध क्रिया होती है; प्रतिक्रिया नहीं। इसलिए कल्याणकारी होती है। अमंगलकारी नहीं।

भीतर चित्तधारा में उठने वाली सुखद-दुखद संवेदनाओं के प्रति पूर्ण समता का भाव आने लगता है तो बाह्य जीवन में

सहज समता प्रकट होने लगती है। बाह्य जीवन-जगत की सारी विषमताएं आंतरिक समता को भंग नहीं कर पातीं। जीवन में आते रहने वाले उतार-चढ़ाव, ज्वार-भाटे, बसंत-पतझड़, धूप-छांह, वर्षा-आतप, हार-जीत, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान, लाभ-हानि आदि द्वंद्वों से मन विचलित नहीं होता। सारी स्थितियों में समरस बना रहता है।

आंतरिक समता की पुष्टि से ही योग-क्षेम पुष्ट होता है। इसी के बल पर हजार प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी अपनी सुरक्षा का मिथ्या भय दूर रहता है। जीवन में वैशारद्य आता है, निर्भयता आती है। अगले क्षण क्या हो जायेगा? इसके लिए चिंतित, व्यथित, आकुल-व्याकुल नहीं होता। मेरे पुत्र-कलत्र, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, सत्ता-शक्ति, स्वास्थ्य-आयु सुरक्षित रहेंगे या नहीं? इन निरर्थक चिंताओं से मुक्ति मिलती है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति को अपरिवर्तनीय बनाए रखने का प्रमत्त प्रयास, जीवन-जगत की सतत प्रवाहमान धारा को रोक रखने का उन्मत्त आग्रह, पानी के बुदबुदों को मुट्ठी में भींचकर 'मेरा' बनाए रखने का निपट निरर्थक प्रयत्न सहज ही छूट जाता है। जीवन से कुटिलता, विषमता, खिंचाव-तनाव, स्वतः दूर होने लगते हैं। परिस्थितियों की बदलती हुई लहरों पर सहजभाव से तैरना आ जाता है। नितांत कर्मशील रहते हुए भी परिणामों के प्रति उन्मुक्त निश्चिंतता आती है और साथ-साथ व्यवहार कौशल्य में प्रौढ़ता आती है। यही समता-धर्म का मंगल परिणाम है।

समता आती है तो मन, वाणी और शरीर के कर्मों में शुद्धता आती है। उनमें सामंजस्य आता है। परिणामतः जीवन में स्वस्थता आती है। वात-पित्त-कफ में विषमता आने से शरीर रोगी हो जाता है। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीर के कर्मों में विषमता आने से जीवन रोगी हो जाता है। मन में कुछ हो, बोलें कुछ और, करें कुछ और; तो अस्वस्थ ही हो जाएंगे। ताल-स्वर-लय की समता से जैसे तन्मयता आती है, वैसे ही मन-वाणी-शरीर के कर्मों की समता से भी तन्मयता आती है। परम सुख प्राप्त होता है। समता का सुख संसार के सारे सुखों से परे है, श्रेष्ठ है।

समता ही स्वस्थता है। मन की समता नष्ट होती है तो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक भी और परिणामतः शारीरिक भी। समतापूर्ण जीवन जीने वाला कलावंत व्यक्ति ही स्वस्थ जीवन जीता है। समतामय जीवन जीने वाले का अहंभाव, आत्मभाव नष्ट होता है। वह अहंता-रहित अनात्मभाव का मंगल जीवन जीता है। 'मैं' और 'तू' का विषमताभरा एकांतीय एकपक्षीय दृष्टिकोण टूटता है। समता-समन्वय का अनेकान्तीय-अनेकपक्षीय दृष्टिकोण पनपता है। विषमता आसक्ति की ओर झुकाती है। आसक्ति अतियों की ओर झुकाती है। और अतियों की ओर झुक जाने के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण उत्पन्न होने लगते हैं। "केवल मेरी मुक्ति हो जाय, बाकी समाज भले जहन्नुम में जाय। यह पुत्र, कलत्र, भाई, बंधु सब बंधन है। मुझे इनसे क्या लेना-देना? मैं कैसे अपनी मुक्ति साध लूं? इनके भले-बुरे से मुझे कोई लेना-देना

नहीं।" –ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अतियों के एक अंत में उलझा रहता है। दूसरी ओर केवल "मैं" और 'मेरे परिवार की सीमित परिधि में आकंठ डूबा हुआ व्यक्ति अतियों के दूसरे अंत में उलझा रहता है। समता-धर्म मध्यम मार्ग का धर्म है। समता-धर्म आत्ममंगल और परमंगल के समन्वय-सामंजस्य का धर्म है। व्यक्ति जंगल के पेड़-पौधों की तरह स्थावर नहीं है। जंगम है, चलता-फिरता है और अन्य अनेक लोगों से उसका संपर्क, संबंध बना रहता है। आत्म-शोधन के लिए कुछ काल एकांत वास करना और अंतर्मुखी होना आवश्यक व कल्याणकारी है। परंतु इस प्रकार शोधे हुए मन का बाह्य जगत में सम्यक प्रयोग होने पर ही धर्म पुष्ट होता है।

"मैं" के संकुचित बिंदु से चिपके रहने के कारण ही दृष्टि धूमिल हो जाती है। कर्म-सिद्धांत की वैज्ञानिकता स्पष्ट समझ में नहीं आती। आसक्तिजन्य अतियों की ओर झुक जाता है और यह मानने लगता है कि हर व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों से ही प्रभावित होता है। औरों के कर्मों से उसे कुछ भी लेना-देना नहीं। जबकि सच्चाई यह है कि हर व्यक्ति अपने कर्मों से तो प्रभावित होता है, परंतु सारे समाज के कर्मों से भी कम प्रभावित नहीं होता। व्यक्ति अपने कर्मों का फलित पुतला तो है ही, परंतु समग्र मानव समाज की अब तक की प्रगति या प्रतिगति की विरासत भी लिए ही हुए है। हमारे कर्म हमें तो प्रभावित करते ही हैं, परंतु कमोबेश औरों को भी प्रभावित करते रहते हैं। हम अपने कर्मों की विरासत अपनी भवधारा को तो दे ही रहे हैं, परंतु साथ-साथ

आने वाली पीढ़ियों को भी कुछ न कुछ दे रहे हैं। न व्यष्टि समष्टि से अछूता रह सकता है और न समष्टि व्यष्टि से। न व्यक्ति समाज से अछूता रह सकता है और न समाज व्यक्ति से। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति और समुदाय के संबंधों में समता, सामंजस्य की स्थापना ही शुद्ध धर्म का मंगल परिणाम है। समता का शुद्ध धर्म जितना-जितना विकसित होता है, व्यक्ति उतना-उतना 'मैं' के संकुचित बिंदु से आगे बढ़ता है। यह 'मैं' का बिंदु ही है जो अपने इर्द-गिर्द 'मेरे' के वृत्त पैदा करता रहता है। शनैः शनैः इस 'मेरे' के वृत्त की संकीर्णता भी दूर होती है। 'मेरे' का वृत्त विकसित होते-होते साम्य की पूर्णता प्राप्त होने पर असीम हो जाता है।

जब तक 'मैं' की संकीर्णता में आबद्ध रहता है तब तक इस 'मैं' के लिए किसी की भी हानि करने में नहीं सकुचाता। दायरा जरा-सा बढ़ता है तो जिन्हें 'मेरा' कहता है उनकी हानि करने से रुकता है। 'मैं' के दायरे से निकलता है तो 'मेरे' के संकुचित दायरे तक सीमित हो जाता है। 'मेरी पत्नी', 'मेरा पुत्र' के दायरे तक। उससे और आगे बढ़ता है तो 'मेरे कुल', 'मेरे गोत्र', 'मेरे वर्ण', 'मेरी जाति', 'मेरे संप्रदाय', 'मेरे राष्ट्र' की परिधि में अटक कर रह जाता है। समता-धर्म में परिपुष्ट होता है तो ये परिधियां भी टूटती हैं। मानवमात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के हित-सुख में अपना हित-सुख देखता है। किसी भी प्राणी के हित-सुख का हनन करके अपने हित-सुख की कुचेष्टा करना तो दूर, ऐसा चिंतन तक नहीं कर सकता।

जहां दायरे हैं वहां विषमता है। दायरा जितना संकुचित विषमता उतनी ही तीव्र है। साम्य का उतना ही अभाव है। साम के अभाव के कारण ही जो 'मैं' हूं, जो 'मेरा' है, उसके हित-सु के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए जो 'मैं' नहीं हूं, जो 'मेर नहीं है उसकी हानि की जाती है। जब तक ऐसा है तब त जीवन पाप से ही भरा रहता है। जो 'मैं-मेरा' है उनके लि 'एक कण' भी जुटा सके तो जो 'मैं-मेरा' नहीं है उनका 'ए मन' भी मिट्टी में मिलाते हुए नहीं हिचकते। 'मैं-मेरे' के लि किसी दुर्बल के मुँह का कौर छीनते हुए नहीं झिझकते। ''मैं-मेरे के अंधेपन में जघन्य से जघन्य पाप-कर्म भी अनुचित न लगता।

विषमता 'मैं-मेरे' की, 'अहं-मम' भाव की जननी है। 'अहं-मम भाव विषमता का पोषक है। 'अहं-मम' भाव के कारण ही ह तीव्र लोभ के वशीभूत होकर संग्रह-परिग्रह करते हैं और अने को अभावग्रस्त कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। त दंभ के वशीभूत होकर ऊंचे कुल, ऊंचे वर्ण, ऊंची जाति नशा सिर पर चढ़ाते हैं और समाज में ऊंच-नीच का भेद-भ पैदा कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। सत्ता के मद मदहोश होकर निर्बल और भोले लोगों का दमन और शो करते हैं और सामाजिक समता की हत्या करते हैं। इस प्र आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अ अहं का पोषण करते हुए वैषम्य पैदा करते हैं, औरों के सम अधिकारों को कुचलते हुए निर्मम पैशाचिक व्यवहार करते हैं

अपने तथा अन्य सबों के दुख का कारण बनते हैं। यह सब समता के अभाव के कारण ही होता है। अपने-पराए का भेद मिटाकर साम्यभाव आए तो ऐसी नृशंसता कर ही न सकें। यदि मैं मिलावट की औषधि बेचने वाला लोभी व्यापारी हूं तो अपने बीमार बेटे को वैसी औषधि कभी नहीं देता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी मिलावट की औषधि नहीं दूंगा। यदि मैं रिश्वतखोर शासक हूं या शासनाधिकारी हूं तो अपने बेटे से रिश्वत नहीं लूंगा। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी से भी रिश्वत कभी नहीं लूंगा। यदि उच्च वर्ण के मिथ्या दंभ का शिकार हूं तो अपने पुत्र को अछूत कहकर कभी नहीं दुत्कारता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी अछूत कहकर नहीं दुत्कारूंगा। अपने और पराए का भेद दूर होना ही वैषम्य का दूर होना है। सर्वमंगलकारी साम्यभाव का प्रतिष्ठापित होना है।

जहां शुद्ध साम्यभाव प्रतिष्ठापित होता है, वहां स्व और पर की सीमा टूटती है। परिणामत: शोषण मिटता है, सहकारिता आती है। क्रूरता मिटती है, मृदुता आती है। अन्याय मिटता है, न्याय आता है। संकीर्णता मिटती है, विशालता आती है। अहंभाव-हीनभाव मिटता है, भ्रातृभाव आता है। अधर्म मिटता है, धर्म आता है।

एक ओर अपने मिथ्या स्वार्थों की सुरक्षा के लिए भयभीत और आतंकित होकर किसी दुर्बल व्यक्ति को कोहनी मारकर नीचे गिराने और उसे पांव तले रौंदने की क्रूरता और दूसरी ओर योग-क्षेम से परिपूर्ण होकर निर्भय रहते हुए सब के हित-सुख में ही अपना

हित-सुख देखने की विशालहृदयता, इन दोनों के बीच की सारी स्थितियां समता-धर्म के विकास की ही सीढ़ियां हैं।

समता पुष्ट होती है तो सामंजस्य आता है, समन्वय आता है, स्नेह-सौहार्द आता है, सहिष्णुता आती है। सहयोग, सद्भाव, सहकारिता सहज-भाव से ही आ जाते हैं। इनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ये सब नहीं आ रहे हैं तो अवश्य कुछ कमी है। अभी जीवन में सही विपश्यना, सही समता नहीं आयी है। समता की साधना के नाम पर कोई छलना, कोई माया या कोई धोखा आया होगा। दार्शनिक बुद्धिविलास का एक और चमकीला लेप आया होगा। अवश्य ही अंतर्मन अभी विषमता से भरा हुआ है। अपने आपको इसी कसौटी से कस कर जांचते रहना चाहिए।

सचमुच समता पुष्ट होगी तो अपनी हानि करके भी औरों का हित-साधन ही होगा और यह सहजभाव से होगा। दीये की बत्ती स्वयं जलती है पर बदले में लोगों को प्रकाश ही देती है। धूपबत्ती स्वयं जलती है पर बदले में सबको सुवास ही देती है। चंदन की लकड़ी स्वयं कटती है पर बदले में सबके लिए सुरभि ही बिखेरती है। फलवाला वृक्ष पत्थर की मार स्वयं सहता है पर बदले में सबको फल ही देता है। और यह सब कुछ सहजभाव से होता है। समता सहज हो जाय तो सबके मंगल का स्रोत खुल जाय।

ऐसे सर्वमंगलमय समता-धर्म में स्थापित होने के लिए अभ्यास करें!

★

छाये समता सुखमयी

सुख-दुख दोनों एक से, मान और अपमान।
चित विचलित होवे नहीं, तो सच्चा कल्याण।।
जीवन में आते रहें, पतझड़ और बसंत।
मन की समता ना छुटे, तो सुख-शांति अनंत।।
ज्यूं ज्यूं अंतर्जगत में, निर्मल समता छाय।
काया वाणी चित्त के, कर्म सुधरते जायं।।
तन सुख, मन सुख, मान सुख, भले ध्यान सुख होय।
पर समता सुख परम सुख, अतुल अपरिमित होय।।
विषम जगत में चित्त की, समता रहे अटूट।
तो उत्तम मंगल जगे, होय दुखों से छूट।।
शुद्ध धर्म जग में जगे, होय विषमता दूर।
छाये समता सुखमयी, योग-क्षेम भरपूर।।

9. सरल चित्त

सरलता ही चित्त की विशुद्धि है। कुटिलता मलीनत
है। मलीनता अनर्थकारिणी है, विशुद्धता सर्वार्थ-साधिनी
कुटिलता सर्व-हित-नाशिनी है, सरलता सर्व-हितकारिणी। न केवल
अपने बल्कि सबके हित-सुख साधन के लिए सरलता अपनाएं
कुटिलता त्यागें।

नैसर्गिक स्वच्छ मन स्वभाव से ही सरल होता है। सरलत
गयी तो समझो स्वच्छता गयी। सरलता खोने के तीन प्रमुख कार
हैं जिनसे कि हमें सावधान रहकर बचना चाहिए। कौन से तीन
तृष्णा, अहंमन्यता और दार्शनिक दृष्टियां। तण्हा-मान-दिट्ठि। इ
तीनों में से किसी एक के प्रति मन में जब जितनी आस
उत्पन्न होती है, तब हम उतनी ही सरलता खो बैठते हैं, उत
ही स्वच्छता गँवा देते हैं, उतने मलीन हो जाते हैं, उ
सुख-शांतिविहीन हो जाते हैं, उतने दुखी हो जाते हैं।

जब किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति के प्रति तृष्णा जाग
है और आसक्ति बढ़ती है, तब उसे प्राप्त करने के लिए अथ
प्राप्त हुई हो तो अधिकार में रखने के लिए हम बुरे से

तरीका अपनाने पर उतारू हो जाते हैं। चोरी, डकैती, झूठ-फरेब, छल-छद्म, प्रपंच-प्रवंचन, धोखा-धड़ी आदि सब कुछ अपनाते हैं। अपने पागलपन में मन की सारी सरलता खो देते हैं। साध्य हासिल करने की आतुरता में साधनों की पवित्रता खो देते हैं। प्रिय के प्रति अनुरोध ही अप्रिय के प्रति विरोध उत्पन्न करता है। इससे हम इतने प्रमत्त हो उठते हैं कि तृष्णा-पूर्ति में जो भी बाधक लगता है, उसे दूर करने के लिए, नष्ट करने के लिए असीम क्रोध, रोष, द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य और दुर्भावनाओं का प्रजनन करने लगते हैं और परिणामस्वरूप अपनी सुख-शांति भंग कर लेते हैं। मन की सरलता नष्ट कर लेते हैं।

इसी प्रकार जब 'मैं-मेरे' के प्रति आसक्ति बढ़ती है तो उस मिथ्या कल्पित 'मैं-मेरे' की मिथ्या सुरक्षा और मिथ्या हित-सुख के लिए, जिन्हें 'मैं-मेरा' नहीं मानते उनकी बड़ी से बड़ी हानि करने पर तुल जाते हैं। ऐसा कर वस्तुत: अपनी ही अधिक हानि करते हैं। अपने मन की सरलता की हत्या करते हैं, अपनी आंतरिक स्वच्छता खो बैठते हैं, अपनी सुख-शांति गंवा बैठते हैं। औरों को ठगने के उपक्रम में स्वयं ही ठगे जाते हैं।

इसी प्रकार जब हमें किसी दार्शनिक दृष्टि अथवा सांप्रदायिक मान्यता के प्रति आसक्ति हो जाती है तो संकीर्णता के शिकार हो जाते हैं और मन की सहज सरलता खो बैठते हैं। मन जब पानी की तरह सहज-सरल-तरल होता है तो अपने आपको सच्चाई के पात्र के अनुकूल ढाल लेता है और अपनी सरलता भी नहीं गँवाता। रास्ते में अवरोध आता है तो कल-कल करता हुआ

उसके बगल से निकल जाता है। कोई अवरोध उसे काटता है, दो टुकड़े करता है, तो कटकर भी अवरोध के आगे बढ़ता हुआ फिर जुड़ जाता है और वैसे का वैसा हो जाता है। जब कोई अवरोध दीवार की तरह सामने आकर गति अवरुद्ध कर देता है तो धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे ऊंचा उठता हुआ उस दीवार को लांघकर सहजभाव से आगे बह निकलता है। परंतु मन जब पत्थर की तरह कठोर हो जाता है तो चट्टानों से टकराकर चिनगारियां पैदा करता है, चूर-चूर होता है। जब हमारी दृष्टि दार्शनिक विश्वासों, अंधमान्यताओं, कर्मकाण्डों और बाह्य आडंबरों के प्रति आसक्त होकर रूढ़ हो जाती है तब पथरा जाती है। पथराई हुई दृष्टि निर्जीव हो जाती है, हमें अंधा बनाती है और हमारे कल्याण का रास्ता बंद करती है। सांप्रदायिकता की दासता में जकड़े रहने के कारण हम सत्य को अपने चश्मे से ही देखना चाहते हैं, उसे तोड़-मरोड़कर अपनी मान्यता के अनुकूल बनाना चाहते हैं, उस पर अपना रंग-रोगन लगाकर उसकी सहज स्वाभाविकता, सहज सौंदर्य नष्ट करते हैं। इस दुष्प्रयास में अपने मन की सरलता नष्ट करते हैं। उसे कुटिलता से भरते हैं।

कुटिलता कठोरता है, सरलता मृदुता। कुटिलता अभिमानता है, सरलता निरभिमानता। कुटिलता ग्रंथि-बंधन है, सरलता ग्रंथि-विमोचन।

ग्रंथि-बंधन बड़ा दुखदायी है। सच्चा सुख तो ग्रंथि-विमोचन में ही है, विमुक्ति में ही है। जब-जब सरलता खोकर कुटिलता अपनाते हैं, तब-तब अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। भीत

ही भीतर तनाव-खिंचाव शुरू हो जाता है। अनजाने में गांठें बांधने लगते हैं। अंतर्मन गांठ-गठीला हो उठता है। उसके साथ-साथ शरीर के रेशे-रेशे मूंज की रस्सी की तरह बल खा-खा कर अकड़ जाते हैं। इससे हम बेचैन, अशांत, व्याकुल ही रहते हैं। हमारी यह आंतरिक व्याकुलता जब-तब चिड़चिड़ाहट और झुंझलाहट के रूप में बाहर प्रकट होती है और इस प्रकार हम अपनी बेचैनी औरों पर बरसाते हैं।

इसके विपरीत मन जब सहज-सरल रहता है तो मृदु-मधुर, सौम्य-स्वच्छ, शीतल-शांत रहता है। शरीर भी हल्का-फुल्का और पुलक-रोमांच से भरा रहता है। परिणामतः हम प्रीति-प्रमोद और सुख-सौहार्द से भर उठते हैं। हमारा यह आंतरिक प्रीति-सुख मैत्री और करुणा के रूप में बाहर प्रकट होता है और इस प्रकार हम अपनी सुख-शांति औरों को बांटते हैं। आस-पास के सारे वायुमंडल को प्रसन्नता से भरते हैं।

इसीलिए, आत्महित, परहित और सर्वहित के लिए, कुटिलता त्यागें। सरलता अपनाएं।

कुटिलता में महा अमंगल समाया हुआ है, सरलता में महा मंगल। ★

कथनी करनी एक सी

जो चाहे अपना कुशल, जो चाहे निर्वाण।
सरल, सरल अति सरल बन, छोड़ कपट अभिमान॥
जब तक मन में कुटिलता, मुक्त हुआ ना कोय।
जिसने त्यागी कुटिलता, सहज मुक्त है सोय॥
अपने मन की कुटिलता, अपना ही दुख भार।
अपने मन की सरलता, अपना ही सुख सार॥
कपट रहे ना कुटिलता, रहे न मिथ्याचार।
शुद्ध धर्म ऐसा जगे, होय स्वच्छ व्यवहार॥
सहज सरल मृदु नीर सा, मन निर्मल हो जाय।
त्यागे कुलिस कठोरता, गांठ न बंधने पाय॥
बाहर भीतर एक रस, सरल स्वच्छ व्यवहार।
कथनी करनी एक सी, यही धर्म का सार॥

10. धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग-थलग रहना उसके लिए न उचित है और न ही संभव। समाज में रहते हुए समाज के लिए अधिक से अधिक स्वस्थ सहायक बना रह सके, इसी में उसके जीवन की उपादेयता है, सार्थकता है। स्वस्थ व्यक्तियों से ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। अस्वस्थ व्यक्ति वही है जिसका मन विकारों से विकृत रहता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं तो दुखी रहता ही है अपने संपर्क में आने वालों को भी उत्तापित करता है। अतः सुखी-स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति को सुख-स्वास्थ्य से भरपूर करना नितांत आवश्यक है। एक-एक व्यक्ति स्वच्छ-चित्त हो, शांत-चित्त हो, तो ही समग्र समाज की शांति बनी रह सकती है। धर्म इस व्यक्तिगत शांति के लिए एक अनुपम साधन है और इस कारण विश्व-शांति का भी एकमात्र साधन है।

धर्म का अर्थ संप्रदाय नहीं है। संप्रदाय तो मनुष्य-मनुष्य और वर्ग-वर्ग के बीच दीवारें खड़ी करने, विभाजन पैदा करने का काम करता है। जबकि शुद्ध धर्म दीवारों को तोड़ता है, विभाजनों को दूर करता है।

शुद्ध धर्म मनुष्य के भीतर समाए हुए अहंभाव अथवा हीनभाव को जड़ से उखाड़ फेंकता है। मानव मन की आशंकाएं, उत्तेजनाएं, उद्विग्नताएं दूर करता है और उसे स्वच्छता और निर्मलता के उस धरातल पर प्रतिष्ठित करता है, जहां न अहंकारजन्य दंभ टिक सकता है, और न ही हीनभाव की ग्रंथियों से ग्रस्त दैन्य पनप सकता है। जीवन में समत्वभाव आता है और हर वस्तु, व्यक्ति और स्थिति को उसके यथार्थ स्वरूप में देख सकने की निर्मल प्रज्ञा जागती है। अतिरंजना और अतिशयोक्तियों में डूबा हुआ भक्ति-भावावेश दूर होता है। ज्ञान, विवेक, बोधि के अंतर्चक्षु विरज-विमल बन जाते हैं। अंतर्दृष्टि पारदर्शी बन जाती है। उसके सामने से सारा कुहरा, सारी धुंध दूर हो जाती है। यह जो हमने सुनी-सुनाई और पढ़ी-पढ़ाई बातों से अपने मन को विकृत कर लिया है, यही पूर्वाग्रह रूपी विकृतियां सत्य दर्शन में बाधा पैदा करती हैं। पूर्वनिश्चित धारणाएं और मान्यताएं हमारी आंखों पर रंगीन चश्मों की तरह चढ़ी रहती हैं और हमें वास्तविक सत्य को अपने ही रंग में देखने के लिए बाध्य करती हैं। धर्म के नाम पर हमने इन बेड़ियों को सुंदर आभूषणों की तरह पहन रखा है। सच्ची मुक्ति के लिए इन बेड़ियों का टूटना नितांत आवश्यक है।

चित्त को राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, मात्सर्य, दुर्भावना, दौर्मनस्य, भय, आशंका, मिथ्या काल्पनिक दृष्टियों, मान्यताओं और रूढ़ियों की जकड़ से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि सारी रूढ़ परंपराओं को एक ओर रखकर, भावुकता को दूर हटाकर, हम

यथार्थ में जीना सीखें। यथार्थ में जीना वर्तमान में जीना है, इस क्षण में जीना है। क्योंकि बीता हुआ क्षण यथार्थ नहीं, वह तो समाप्त हो चुका। अब तो केवल उसकी याद रह सकती है, वह क्षण नहीं। इसी तरह आने वाला क्षण अभी उपस्थित नहीं है, उसकी केवल कल्पना और कामना हो सकती है; यथार्थ दर्शन नहीं। वर्तमान में जीने का अर्थ है, इस क्षण में जो कुछ अनुभूत हो रहा है, उसी के प्रति जागरूक होकर जीना। भूतकाल की सुखद या दुखद स्मृतियां अथवा भविष्यकाल की सुखद या दुखद आशाएं-आशंकाएं हमें वर्तमान से दूर ले जाती हैं और इस प्रकार सच्चे जीवन से विमुख रखती हैं। वर्तमान से विमुख ऐसा थोथा निस्सार जीवन ही हमारे लिए विभिन्न क्लेशों का कारण बनता है। अशांति, असंतोष, अतृप्ति, आकुलता, व्यथा और पीड़ा को जन्म देता है। जैसे ही हम 'इस क्षण' या यथाभूत दर्शन करते हुए जीने लगते हैं, वैसे ही क्लेशों से स्वाभाविक मुक्ति मिलने लगती है।

इस देश के एक महापुरुष भगवान तथागत गौतम बुद्ध को यही सम्यक सम्बोधि प्राप्त हुई। इस क्षण में जीना सीखकर चित्त को संस्कारों से विहीन कर, परम परिशुद्ध कर, बंधनमुक्त हो सकने की कला हासिल हुई। उन्होंने जीवन भर लोगों को इसी कल्याणकारिणी कला का अभ्यास कराया। इसी मंगलमयी विधि का नाम विपश्यना साधना है। साधक को इस क्षण जो कुछ अनुभूत हो रहा है उसी के प्रति जागरूक रहने का वह अभ्यास करता है। अपनी काया के प्रति जागरूक रहते हुए कायानुपश्यना

करता है। काया के भिन्न-भिन्न अंगों में अनुभूत होने वाली सम
सुखद व दुखद अथवा असुखद-अदुखद संवेदनाओं के प्रति जाग
रहते हुए वेदनानुपश्यना करता है। अपने चित्त के प्रति जाग
रहकर चित्तानुपश्यना करता है। चित्त में उठने वाली वि
अच्छी-बुरी वृत्तियों के प्रति, उनके गुण, धर्म, स्वभाव के
जागरूक रहता हुआ और अंततः काया, संवेदना, चित्त और चि
वृत्तियों की परिसीमाओं से परे निर्वाण धर्म का साक्षात्कार क
हुआ धर्मानुपश्यना करता है। जागरूकता का यह अभ्यास उ
चित्त पर पड़े हुए सभी बुरे विकारों और संस्कारों का उच्छे
करता है। चित्त धीरे-धीरे आसक्तियों, आस्रवों, व्यसनों, तृष्ण
और तीव्र लालसाओं के बंधन से, अतीत की सुखद-दुखद
की निरर्थक उलझनों से, भावी आशंकाओं के भय-भीतिजन्य मान
उत्पीड़न से, भविष्य के सुनहरे स्वप्नों की काल्पनिक उधे
से विमुक्त होता हुआ, अपनी स्वाभाविक नैसर्गिक स्वच्छता
प्राप्त होता है।

समस्त ऐंठन-अकड़नभरी ग्रंथियों और खिंचाव-तना
मानसिक पीड़ाओं को दूर करने का यह एक सहज-सरल त
है, जो मानवमात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। इ
अभ्यास करने के लिए यह अनिवार्य नहीं कि कोई अपने आ
बौद्ध संप्रदाय में दीक्षित करे। यह भी अनिवार्य नहीं कि
विधि के प्रवर्तक भगवान बुद्ध की मूर्ति को नमन करे। उसे
दीप, नैवेद्य, आरती से पूजित करे। यह भी नहीं कि स
उस आदिगुरु के रूप या आकार का ध्यान करे अथवा

नाम या मंत्र का जप करे। यहं भी नहीं कि उसकी शरण ग्रहण, करने के नाम पर ऐसा अंध आत्म-समर्पण कर दे कि बिना स्वयं कुछ किये, केवल उसकी कृपा से ही तर जाने की मिथ्या भ्रांति सिर पर चढ़ जाय। इस विधि से स्वयं लाभान्वित होने के बाद अथवा अन्य लोगों को लाभान्वित होते देखकर यदि कोई साधक उस महाकारुणिक, महाप्रज्ञावान भगवान तथागत के प्रति कृतज्ञता-विभोर होकर उनकी करुणा और प्रज्ञा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करे तो कोई दोष नहीं। गुणों के प्रति प्रकट की हुई श्रद्धा उन गुणों को अपने जीवन में धारण करने की प्रेरणा प्रदान करती है। अत: कल्याणकारिणी होती है। इसी प्रकार कृतज्ञता भी चित्त की एक मंगलमयी सद्वृत्ति है। श्रद्धा और कृतज्ञता की भावना चित्त को मृदुल बनाती है, जो कि विपश्यना साधना के इस चित्त-विशुद्धीकरण के प्रयास में सहायक होती है।

विपश्यना साधना काया और चित्त की प्रकृति के यथार्थ स्वरूप के प्रति जागरूक रहना सिखाती है। प्रकृति के यथार्थ दर्शन का यह अभ्यास किसी भी वर्ग, संप्रदाय, जाति, देश, काल व बोली-भाषा के व्यक्ति के लिए कोई कठिनाई पैदा नहीं करता। मानव अपनी ही मानवीय प्रकृति का स्वयं अध्ययन करता है। आत्म-दर्शन करता है। आत्म-निरीक्षण करता है। अपने भीतर समाई हुई गंदगियों का यथाभूत दर्शन करता है। अपने मनोविकारों का यथार्थ अवलोकन करता है। इस प्रकार देखते-देखते वे मनोविकार दूर होते हैं और साधक एक भला, नेक आदमी बनकर सच्चे मानवीय धर्म में संस्थापित होता है। ऐसा नेक इंसान किसी भी जाति, वर्ग या

संप्रदाय का क्यों न हो, सारे मानव समाज का गौरव साबि
होता है। स्वयं तो सुख-शांति से रहता ही है, अपने संपर्क
आने वाले अन्य सभी लोगों की सुख-शांति बढ़ाने में भी सहाय
सिद्ध होता है।

सद्धर्म का यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक औ
सर्वहितकारी स्वरूप अधिक से अधिक लोगों को उपलब्ध ह
और उनके हित-सुख का कारण बने, यही मंगल कामना है।

धर्म सिखाए प्यार

संप्रदाय ना धर्म है, धर्म न बने दिवार।
धर्म सिखाए एकता, धर्म सिखाए प्यार॥
शुद्ध धर्म जागे जहां, होय सभी का श्रेय।
निज हित, पर हित, सर्वहित, यही धर्म का ध्येय॥
धर्मवान की जिंदगी, सबके सुख हित होय।
अपना भी होवे भला, भला सभी का होय॥
धर्म-विहारी पुरुष हों, धर्म-चारिणी नार।
धर्मवंत संतान हों, सुखी होय संसार॥
बीते क्षण में जी रहे, या जो आया नांय।
इस क्षण में जीएं अगर, तो जीना आ जाय॥
पल-पल-क्षण-क्षण सजग रह, अपने कर्म सुधार।
सुख से जीने की कला, अपनी ओर निहार॥

11. धर्म ही रक्षक है

अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए चिंतित रहना मनुष्य मन का स्वभाव बन गया है। आने वाले क्षण सुखद हों, योग-क्षेम से परिपूर्ण हों इस निमित्त मानव भांति-भांति की शरण खोजता है, आश्रय ढूंढ़ता है, सहारा टटोलता है। परंतु धर्म को छोड़कर कोई शरण, आश्रय, सहारा है ही नहीं, जो कि उसे भविष्य के प्रति निशंक और निर्भय बना दे, योग-क्षेम से परिपूर्ण कर दे। अतः धर्म-शरण ही एकमात्र शरण है, धर्म का संरक्षण ही एकमात्र सही संरक्षण है। धर्म वह जो हमारे भीतर जागे, जिसे हम स्वयं धारण करें। किसी दूसरे के भीतर जागा हुआ, किसी दूसरे द्वारा धारण किया हुआ धर्म, हमारे किस काम का? वह तो अधिक से अधिक हमें प्रेरणा और विधि प्रदान कर सकता है। परंतु हमारा वास्तविक लाभ तो स्वयं धर्म धारण करने में है। अतः धर्म-शरण का सही अभिप्राय आत्म-शरण है। इसीलिए कहा गया– *अत्तसम्मा पणिधि च एतं मंगलमुत्तमं*। यानी हमारा उत्तम मंगल इसी बात में है कि हम सम्यक प्रकार अर्थात भली-भांति आत्म-प्रणिधान का अभ्यास करें। किसी भी बाह्य-शक्ति के प्रणिधान का अभ्यास हमें कायर, परावलंबी और असमर्थ

ही बनाएगा। यह आत्म-द्वीप और आत्म-शरण ही है, जो कि सही माने में धर्म-द्वीप और धर्म-शरण है। हर संकट में हम अपने भीतर का धर्म जगाएं। स्वयं धारण किए हुए धर्म द्वारा एक ऐसा सुरक्षित द्वीप बनाएं जिसमें कि हमारे जीवन की डगमगाती हुई नैया सही संरक्षण पा सके, संकटों के प्रति हमारी सुरक्षा स्थिर हो सके।

मुख्य बात यही है कि हम अपने भीतर की प्रज्ञा जगाए रखें और इसके लिए समाधि द्वारा अपने चित्त की एकाग्रता पुष्ट रखें तथा कायिक, वाचिक दुष्कर्मों से बचते हुए अपने शील को अखंडित रखें। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह विशुद्ध धर्म हम जितना सुरक्षित रखेंगे यानी हम जितने-जितने धर्म-विहारी बनेंगे, उतने-उतने ही इस स्वयं पालन किए हुए, स्वयं धारण किए हुए, स्वयं सुरक्षित किए हुए धर्म द्वारा अपना सुरक्षण, संरक्षण पायेंगे। सचमुच

"धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं।"

'धर्मचारी की रक्षा धर्म स्वयं ही करता है।'– तो अपनी सही सुरक्षा के लिए स्वयं सच्चे धर्मचारी, धर्म-विहारी, धर्म-पालक बनें। इसी में हमारा मंगल, भला, कल्याण निहित है। ★

धर्म सदा ही साथ

धर्म सदृश ना कवच है, धर्म सदृश ना ढाल।
धर्म-पालकों की सदा, धर्म करे प्रतिपाल॥
प्रलयंकारी बाढ़ में, धर्म सदृश ना द्वीप।
काल अंधेरी रात में, धर्म सदृश ना दीप॥
धर्म सदृश रक्षक नहीं, सखा, सहायक, मीत।
चलें धर्म के पंथ पर, रहे धर्म से प्रीत॥
जीवन में झंझा उठे, उठे तेज तूफान।
शरण ग्रहण कर धर्म की, धर्म बड़ा बलवान॥
भले जगत प्रतिकूल हो, कोई मित्र न होय।
धर्म सतत जाग्रत रहे, तो मंगल ही होय॥
धर्म हमारा ईश है, धर्म हमारा नाथ।
हमको भय किस बात का? धर्म सदा ही साथ॥

12. क्या पड़ा है 'नाम' में ?

पुरानी बात है। किसी व्यक्ति के मां-बाप ने उसका नाम पापक (पापी) रख दिया। बड़ा हुआ तो यह नाम उसे बहुत बुरा लगने लगा। उसने अपने आचार्य से प्रार्थना की कि भंते! मेरा नाम बदल दें। यह नाम बड़ा अप्रिय है क्योंकि अशुभ, अमांगलिक और मनहूस है। आचार्य ने उसे समझाया कि नाम तो केवल प्रज्ञप्ति के लिए, व्यवहार-जगत में पुकारने भर के लिए होता है। नाम बदलने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होगा। कोई पापक नाम रखकर भी सत्कर्मों से धार्मिक बन सकता है और धार्मिक नाम रहे तो भी दुष्कर्मों से पापी बन जाता है। मुख्य बात कर्म की है। नाम बदलने से क्या होगा ?

पर वह नहीं माना। आग्रह करता ही रहा। तब आचार्य ने कहा–"अर्थ-सिद्धि तो कर्म सुधारने से होगी, परंतु यदि तू नाम भी सुधारना चाहता है तो जा, गांव-नगर के लोगों को देख और जिसका नाम तुझे मांगलिक लगे, वह मुझे बता। तेरा नाम वैसा ही बदल दिया जायेगा।"

पापक सुंदर नाम वालों की खोज में निकल पड़ा। घर से बाहर निकलते ही उसे शव-यात्रा के दर्शन हुए। पूछा, कौन मर

गया? लोगों ने बताया– जीवक। पापक सोचने लगा, नाम जीवक, पर मृत्यु का शिकार हो गया।

आगे बढ़ा तो देखा किसी दीन-हीन दुखियारी स्त्री को मार-पीटकर घर से निकाला जा रहा है। नाम पूछा तो बताया गया– धनपाली। पापक सोचने लगा, नाम धनपाली और पैसे-पैसे को मोहताज।

और आगे बढ़ा तो एक राह भूले व्यक्ति को लोगों से राह पूछते पाया। नाम पूछा तो बताया गया– पंथक। पापक फिर सोच में पड़ गया। अरे! पंथक भी पंथ पूछते हैं! पंथ भूलते हैं!

पापक वापस लौट आया। अब नाम के प्रति उसका आकर्षण या विकर्षण दूर हो चुका था। बात समझ में आ गई। क्या पड़ा है नाम में? जीवक भी मरते हैं और अजीवक भी। धनपाली भी दरिद्र होती है और अधनपाली भी। पंथक भी राह भूलते हैं और अपंथक भी। सचमुच नाम की थोथी महत्ता निरर्थक ही है। जनम का अंधा नाम नयनसुख! जनम का दुखिया नाम सदासुख! रहें नाम पापक, मेरा क्या बिगड़ता है? मैं अपना कर्म सुधारूंगा। कर्म ही प्रमुख है। कर्म ही प्रधान है।

जो बात व्यक्ति के नाम पर लागू होती है, वही संप्रदाय के नाम पर भी? न बौद्ध संप्रदाय के सभी लोग बोधिसंपन्न होते हैं और न जैन संप्रदाय के सभी आत्मजित। न ब्राह्मण संप्रदाय के सभी ब्रह्मविहारी होते हैं और न इस्लाम के सभी समर्पित

और शांत। जैसे हर व्यक्ति में अच्छाई-बुराई दोनों होती हैं, वैसे हर संप्रदाय में अच्छे-बुरे लोग होते हैं। किसी भी संप्रदाय के न सभी लोग अच्छे हो सकते हैं, न सभी बुरे। परंतु सांप्रदायिक आसक्ति के कारण हम अपने संप्रदाय के हर व्यक्ति को सज्जन और पराए के हर व्यक्ति को दुर्जन मानने लगते हैं। बौद्ध, जैन, ईसाई या मुस्लिम कहलाने मात्र से कोई व्यक्ति न सज्जन बन जाता है, न दुर्जन। बौद्ध कहलाने वाला व्यक्ति परम पुण्यवान भी हो सकता है और नितांत पापी भी। यह बात सभी संप्रदायों पर समान रूप से लागू होती है। जैसे व्यक्ति की पहचान के लिए उसे कोई नाम दिया जाता है, वैसे ही किसी समुदाय की पहचान के लिए भी। इन नामों से गुणों का कोई संबंध नहीं। तेल भरे पीपे पर शुद्ध घी का लेबल लगा देने पर भी तेल, तेल ही रहता है, शुद्ध घी नहीं बन जाता। किसी सुंदर व्यक्ति का नाम कुरूप रख दें तो वह कुरूप और किसी कुरूप को सुंदर कहने लगें तो वह सुंदर नहीं बन जाता। फूल को कांटा अथवा कांटे को फूल कहने लगें तो भी फूल-फूल ही रहता है, कांटा-कांटा ही।

कोई व्यक्ति हो तो रंक, पर नाम हो राजन्य। ऐसा व्यक्ति जब तक इस तथ्य को समझता है कि वह य़ह राजन्य नाम केवल संबोधन हित है, वस्तुतः मैं रंक हूं, तब तक वह होश में है। परंतु जिस दिन वह इस नाम का दंभ सिर पर चढ़ा कर, रंक होते हुए भी, अपने आपको राव-राजा मानने और अन्य सभी को हेय दृष्टि से देखने लगता है तो वह प्रमत्त व्यक्ति,

लोगों के उपहास का पात्र हो जाता है। लेकिन जहां राजन्य नाम के हजारों-लाखों रंक हों और सबके सब संगठित होकर अपने आपको राव-राजा मानने लगें तथा अन्य सभी लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगें तो पागलों का ऐसा गिरोह केवल उपहासास्पद ही नहीं, बल्कि सारे समाज के लिए खतरे का कारण बन जाता है। ठीक यही दशा हमारी हो जाती है, जब हम जातीयता, सांप्रदायिकता या राष्ट्रीयता की वारुणी चढ़ाकर प्रमत्त हो उठते हैं और अपने आपको औरों से श्रेष्ठ मानते हुए उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हम भी समाज के लिए खतरे का और अशांति का कारण बन जाते हैं। सच तो यह है कि अपने खतरे और अपनी अशांति का कारण बन जाते हैं। सुख-शांति खोकर सच्चे धर्म से दूर पड़ जाते हैं।

धर्म को जाति, वर्ण, वर्ग, समुदाय, देश, राष्ट्र की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। मानव समाज के किसी भी वर्ग में धर्मवान व्यक्ति हो सकता है। धर्म पर किसी एक वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं हुआ करता। धर्म हमें नेक आदमी बनना सिखाता है। नेक आदमी नेक आदमी है। वह अपने संप्रदाय की ही नहीं, प्रत्युत सारे मानव समाज की शोभा है। जो नेक आदमी ही नहीं है, वह नेक हिंदू या मुसलमान, नेक बौद्ध या जैन, नेक भारतीय या बर्मी, नेक ब्राह्मण या क्षत्रिय कैसे हो सकता है? और जो नेक आदमी हो गया वह सही माने में धर्मवान हो गया। उसे कोई किसी नाम से पुकारे, क्या फर्क पड़ता है? गुलाब गुलाब ही रहेगा, नाम बदल देने से उसकी

महक में कोई अंतर नहीं आयेगा। जिस बगिया में खिलेगा, न केवल उसे बल्कि आस-पास के सारे वायुमंडल को अपनी सौरभ से सुरभित करेगा। अतः मुख्य बात है धर्मवान बनने की। नेक इंसान बनने की। नाम चाहे सो रहे। बगिया चाहे जिस समुदाय की हो। उस पर चाहे जिस नाम का बोर्ड लगा हो। फूल खिलने चाहिए। सौरभ बिखरना चाहिए।

सांप्रदायिकता और जातीयता का रंगीन चश्मा उतारकर देखें तो ही धर्म का शुद्ध रूप समझ में आता है। अन्यथा अपने संप्रदाय का रंग-रोगन, नाम-लेबल ही सारी प्रमुखता ले लेता है। धर्म का सार महत्त्वहीन हो जाता है। धर्म की कसौटी पर किसी व्यक्ति को कसकर देखना हो तो यह नहीं देखेंगे कि वह किस संप्रदाय में दीक्षित है? अथवा किस दार्शनिक मान्यता को मानता है? अथवा किन रूढ़ियों को पालता है? वरन यह देखेंगे कि उसका आचरण कैसा है? जीवन-व्यवहार कैसा है? कुशल है या नहीं? पावन है या नहीं? आत्म-मंगलकारी और लोक-मंगलकारी है या नहीं? यदि है तो धर्मवान ही है। जितना-जितना है, उतना-उतना धर्मवान है। यदि नहीं है तो उस व्यक्ति का धर्म से कोई संबंध नहीं है। भले वह अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारे, भले वह चाहे जिस संप्रदाय का, चाहे जैसा आकर्षक बिल्ला लगाए फिरे। धर्म का इन सांप्रदायिक बिल्लों से क्या संबंध? कोरे नाम से, बिल्लों से हमें क्या मिलने वाला है? किसी को भी क्या मिलने वाला है? शराब भरी बोतल पर दूध का लेबल लगा हो तो उसे पीकर हम अपनी हानि

ही करेंगे। यदि उसमें पानी भरा हो तो उसे पीकर प्यास
बुझा लें, परंतु बलवान नहीं बन सकेंगे। बलवान बनना हो
निखालिस दूध पीना होगा। बोतल का रंग-रूप या उस पर ल
लेबल चाहे जो हो। इन नाम और लेबलों में क्या पड़ा
सांप्रदायिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता का भूत सिर पर स
होता है तो केवल बोतल और बोतल के नाम और लेबल
ही सारा महत्त्व देने लगते हैं। दूध गौण हो जाता है। धर्म ग
हो जाता है।

आओ, इन नाम और लेबलों से ऊपर उठकर अपने आच
सुधारें। वाणी को संयमित रखते हुए झूठ, कडुवापन, निंदा
निरर्थक प्रलाप से बचें। शरीर को संयमित रखते हुए हिंसा, चो
व्यभिचार और प्रमादसेवन से बचें। अपनी आजीविका को
करें और जन-अहितकारी व्यवसायों से बचें। मन को संय
रखते हुए उसे वश में रखना सीखें। उसे सतत सावधान, जाग
बने रहने का अभ्यास कराएं और प्रतिक्षण घटनेवाली घटना
जैसी है, वैसी, साक्षीभाव से देख सकने का सामर्थ्य बढ़ा
अंतस की राग, द्वेष और मोह की ग्रंथियां दूर करें। चित्त
नितांत निर्मल बनाएं। उसे अनंत मैत्री और करुणा से भरें।
नाम-लेबल वाले धर्म का यही मंगल-विधान है।

नाम न आए काम

नाम बदल कर क्या मिले? दुखी रहे दिन रैन।
जब तक मन पर मैल है, नहीं शांति सुख चैन।।
नाम बदलने में नहीं, कौड़ी लगी छदाम।
नाम बदलना सरल है, कठिन सुधरना काम।।
नाम भला कोई रहे, सुधर जाय व्यवहार।
बैर छोड़ मैत्री करें, द्वेष छोड़ कर प्यार।।
हिंदू, मुस्लिम, पारसी, बौद्ध, ईसाई, जैन।
मैले मन दुखिया रहें, कहां नाम में चैन।।
दुर्गुण से ही दुख मिले, सदगुण से सुखधाम।
जन व्यवहारी नाम से, सधे न कोई काम।।
लक्ष्मीधर भूखों मरे, यशधर हैं बदनाम।
विद्याधर अनपढ़ रहे, नाम न आए काम।।

13. सत्य धर्म

सत्य-धर्म का उजाला फैलने लगा है। पाप
अंधकार समाप्त होने का समय समीप आ रहा है। इस मंगल
धर्मबेला का लाभ उठाएं और अपने अंतर को धर्म के प्रका
से जगमगा लें। अपने भीतर भरा हुआ सारा अँधेरा, सारा कल्म
दूर कर लें।

हमारे अंतर्मन की अतल गहराइयों में जो राग, द्वेष अ
मोह समाया हुआ है, उसे दूर करें। राग, द्वेष और मोह ही प
का अंधकार है। इसे हटाना धर्म का प्रकाश है। हमारा ब
पुण्य है कि हमें ऐसी सहज-सरल विधि मिली, जिससे कि
अपने अंतर्मन को धोकर सत्य-धर्म की पवित्रता धारण कर सं
इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाएं।

इस मार्ग पर चलने के लिए यह कदापि अनिवार्य नहीं
कि कोई अपने आपको बौद्ध कहने लगे। बौद्ध कहें या न क
परंतु यदि हम उस महाकारुणिक भगवान तथागत के बताए
सहज, सरल तरीके को अपना कर अपने भीतर का राग,
और मोह का कल्मष दूर कर लें तो निश्चय ही इसमें हम

लाभ है। हमारा हित-सुख है। फिर हम अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारें, हम कल्याणकारी मार्ग के सच्चे अनुयायी, दुख-निरोधगामिनी प्रतिपदा के सच्चे पथिक और सभी दुखों से छुटकारा पाने के सच्चे अधिकारी हैं ही।

सच्चे धर्म के अभाव में ही हम ऊंच-नीच की दीवारें बनाकर मनुष्य मनुष्य में विभाजन पैदा कर लेते हैं। सच्चा धर्म इन दीवारों को तोड़कर, हर प्रकार के विभाजन को मिटाता है और एकता के धरातल पर ऐसे मानवीय समाज का गठन करता है, जहां कोई जन्मजात ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं होता । हां, यदि कोई भेद-भाव होता है तो यही कि कौन कितना शीलवान, समाधिवान या प्रज्ञावान है? परंतु यह विभेद भी स्थायी, शाश्वत नहीं है, किसी बाह्य शक्ति द्वारा पूर्व-निश्चित या पूर्व-निर्धारित नहीं है। हर मनुष्य इस बात की क्षमता रखता है कि वह अपने सत्प्रयत्नों द्वारा अधिक से अधिक शीलवान बनकर कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से बचे, अधिक से अधिक समाधिवान बनकर अपने मन को वश में करे और अधिक से अधिक प्रज्ञावान बनकर राग, द्वेष और मोहरूपी चित्त-मैल से छुटकारा पाए। जो सम नहीं है, उसे समता प्राप्त करने का पूरा-पूरा अधिकार है, पूरी-पूरी सहूलियत है।

शील, समाधि और प्रज्ञा में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने वाला व्यक्ति स्वभावतः मैत्री और करुणा के ब्राह्मी गुणों से परिप्लावित हो उठता है। उसके मन में द्वेष और दौर्मनस्य, अहंकार और घृणा, भय और कायरता नहीं रह सकती। न वह जाति, वर्ण,

कुल और धन के कारण अहंभावना का शिकार होता है अ
न ही उनके अभाव में हीन भावना का। कोई व्यक्ति किसी
जाति, कुल, वर्ण या संप्रदाय में जन्मा हो, धनवान हो या निध
विद्यावान हो या अनपढ़; यदि शील, समाधि और प्रज्ञा में प्रति
है तो निश्चय ही पूर्ण मानव है, अतः महान है।

मानवता के इस सही मापदंड से अपने आपको मापते
का अभ्यास बढ़ाएं और जब कभी अपने शील, समाधि
प्रज्ञा में जरा भी कमी देखें तब उसकी पुष्टि के प्रयत्न में
जायँ और इस प्रकार अपना सच्चा कल्याण साधें।

धर्म पंथ सुख पंथ

जागो लोगो जगत के, बीती काली रात।
हुआ उजाला धर्म का, मंगल हुआ प्रभात॥
आओ मानव मानवी, चलें धर्म के पंथ।
धर्म पंथ ही शांति पथ, धर्म पंथ सुख पंथ॥
प्रज्ञा, शील, समाधि की, बहे त्रिवेणी धार।
जन जन का होवे भला, जन जन का उपकार॥
द्वेष और दुर्भाव का, रहे न नाम निशान।
स्नेह और सदभाव से, भर लें तन-मन-प्राण॥
खंड-खंड हो जाति का, संपति का अभिमान।
शुद्ध साम्य फिर से जगे, हो जन जन कल्याण॥
अहंकार ममकार की, टूटे सभी दिवार।
उमड़े मन में प्यार की, धर्म गंग की धार॥

14. विपश्यना क्या है ?

विपश्यना को समझें! भली-भांति समझे बिना स
माने में विपश्यी नहीं बन पाएंगे।

विपश्यना क्या है ?

विपश्यना कोई जादू नहीं, जो हमारे सिर पर चढ़कर बो
लगे। विपश्यना कोई सम्मोहिनी विद्या नहीं जिससे हम किसी अ
के द्वारा सम्मोहित होकर अपनी सुध-बुध खो बैठें। विपश्य
कोई मंत्रविद्या नहीं जो हमें सांप-बिच्छू या भूत-प्रेत की त
मंत्राए रख सके। विपश्यना कोई अंध-भक्ति या अंध-भाव
नहीं जिसके भावोन्माद में हम उन्मत्त बने रह सकें। विपश्
कोई भजन, कीर्तन, संगीत या नृत्य नहीं जिसमें भाव-विभोर हो
हम आत्म-विस्मृत बने रह सकें। विपश्यना कोई ऋद्धि या चमत्
नहीं जिसकी अलौकिकता से चमत्कृत होकर हम आश्चर्य-च
बने रह सकें। विपश्यना शब्दों के इंद्रजाल की कोई माया
जिससे किसी के वाणीविलास से हम अपना बुद्धिविलास
रह सकें। विपश्यना कोई दार्शनिक ऊहापोह नहीं, जिसके स

हम दिमागी कसरत करते रहने में अपने आपको मशगूल रख सकें। विपश्यना तत्त्वचिंतकों का कोई अखाड़ा नहीं जहां हम वाद-विवादी, तर्क-वितर्की बनकर शब्दों के बाल की खाल खींचते हुए बौद्धिक खेल खेलने में अपने आपको भरमाए रख सकें। विपश्यना कोई विशिष्ट वेष-भूषा नहीं, जिसे पहनकर हम धर्मवान बन जाने का गुमान कर सकें। विपश्यना कोई रूढ़ि या कर्मकांड नहीं जिसे पूरा करके हम धर्म के नाम पर आत्म-छलना करते रह सकें। विपश्यना कोई ग्रंथ-पाठ नहीं जिसका पारायण करके हम वैतरणी पार होने का स्वप्न ले सकें। विपश्यना कोई प्रपत्ति नहीं जिसके द्वारा किसी दृश्य-अदृश्य व्यक्ति के प्रति प्रपन्न होकर हम निश्चिंत हो सकें, अकर्मण्य बन सकें। विपश्यना किसी काल्पनिक तारक देव-ब्रह्म अथवा किसी दंभी धर्माचार्य का मिथ्या आश्वासन नहीं जो हमारे लिए डूबते को तिनके का सहारा बन सके।

तो फिर विपश्यना क्या है ?

विपश्यना सत्य की उपासना है। सत्य में जीने का अभ्यास है। सत्य यानी यथार्थ। यथार्थ इसी क्षण का होता है। वास्तविकता इसी क्षण की होती है। अतः विपश्यना इसी क्षण में जीने का अभ्यास है। यह क्षण जिसमें भूत की कोई जल्पना अथवा भविष्य की कोई कल्पना नहीं। यादों की आकुल आहें अथवा स्वप्नों की व्याकुल चाहें नहीं। आवरण, माया विपर्यास, भ्रम-भ्रांति-विहीन इस क्षण का जो सत्य है, जैसा भी है उसे ठीक वैसा ही, उसके सही स्वभाव में देखना-समझना यही विपश्यना है। विपश्यना सम्यक दर्शन है। विपश्यना सम्यक ज्ञान है।

जो जैसा है, उसे ठीक वैसा ही देख-समझ कर जो आच
होगा, वही सही, कल्याणकारी सम्यक आचरण होगा। विपश्
सम्यक आचरण है।

विपश्यना पलायन नहीं है, जीवन-विमुखता नहीं है; प्रत
जीवन अभिमुख होकर जीने की शैली है। विपश्यना खुली ह
में ठोस धरती पर कदम रखकर चलने की कला है। विपश्
बुद्धि-किलोल नहीं, प्रत्युत शुद्ध धर्म-शील को जीवन में उत
की विधि है। विपश्यना आत्म और सर्वमंगलमयी आचार-संहि
है। स्वयं सुख से जीने तथा औरों को सुख से जीने देने
कल्याणकारिणी जीवन-पद्धति है। विपश्यना आत्म-मंगल
सर्व-मंगल है। विपश्यना आत्मोदय है, सर्वोदय है।

विपश्यना आत्म-निर्भरता है। बिना बैसाखियों के स्वयं अ
पांव पर खड़े होने की मंगल विधा है। स्वावलंबन की सर्वोत्
साधना है। विपश्यना आत्म-दर्शन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्ष
है। अपने अंदर का कितना मैल उतरा? कितना बाकी है? कित
निर्मलता आयी? कितनी बाकी है? कितने दुर्गुण दूर हुए? कि
बाकी हैं? कितने सद्गुण आए? कितने बाकी हैं? स्वयं अ
लेखा-जोखा रखते रहने की जागरूकता, विपश्यना है। स
तस्कर, स्वयं रक्षक। स्वयं रोगी, स्वयं चिकित्सक। अज्ञान
ज्ञान, मैल से निर्मलता, रोग से आरोग्य, दुख से दु
विमुक्ति की ओर बढ़ते रहने का स्व-प्रयास विपश्यना
विपश्यना सही प्रयास है, सही प्रयत्न है। सम्यक अभ्यास, सम
व्यायाम है।

विपश्यना आत्म-संवर है। अपने मन पर मैल न चढ़ने देने का संवर। विपश्यना आत्म-निर्जरा है। अपने मन के पुराने मैल उतार फेंकने की निर्जरा। नया मैल कोई दूसरा नहीं, हम स्वयं मोह-विमूढ़ित होकर चढ़ाते रहते हैं। अतः स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक सतत जागरूक रहकर नया मैल न चढ़ने देना विपश्यना है। पुराना मैल किसी अन्य ने नहीं, प्रमादवश स्वयं हमने चढ़ाया है। इसे दूर करने की सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी है, किसी अन्य की नहीं। अतः अपना पुराना मैल स्वयं उतारते रहना विपश्यना है। धीरजपूर्वक प्रयत्न करते हुए थोड़ा-थोड़ा मैल उतारते रहेंगे तो एक दिन पूर्ण निर्मलता प्राप्त हो ही जाएगी। मन निर्मल होगा तो सद्गुणों से भर जाएगा; दूषित मन पर आधारित सारे शारीरिक रोग, सारे दुख स्वतः दूर हो जाएंगे। विपश्यना आरोग्यवर्धिनी संजीवन औषधि है, चित्तशोधनी धर्म-गंगा है, दुखनिरोध-गामिनी प्रतिपदा है, मुक्तिदायिनी धर्मवीथी है।

विपश्यना शील, समाधि में स्थित होकर अंतःप्रज्ञा जागृत करने का पावन अभ्यास है। शनैः शनैः प्रज्ञा पुष्ट करने का सत्प्रयास है। स्थितप्रज्ञ होने का शुभायास है। प्रज्ञा यानी प्रत्येक प्रत्युत्पन्न स्थिति को प्रकार-प्रकार से जानना। विमोहिनी एकांत दृष्टि त्यागकर सत्य-दर्शिनी अनेकांत दृष्टि द्वारा यथार्थ का सर्वांगीण निरीक्षण करना, तटस्थ होकर उसके सही स्वभाव का साक्षात्कार करना। यही विपश्यना है। विपश्यना निस्संग दर्शन है, निर्लिप्त निरीक्षण है, नितांत अनासक्ति है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति का सामना होते ही उसे ठीक-ठी
देखे-समझे बिना सहसा अंध प्रतिक्रिया करना दुष्प्रज्ञता है। य
मानसिक क्षोभ है, उत्तेजना है, विकृति है, असंतुलन है, अशां
है; अत: दुख है। परंतु ऐसी हर अवस्था को विवेकपूर्वक देख-समझ
अपने मन की समता बनाए रखना प्रज्ञा है। आगत परिस्थि
का संतुलित चित्त से सामना करना धर्माचरण है, मंगल आचर
है। यही विपश्यना है। उत्पन्न स्थिति को हथियाने या हटाने
हठात चेष्टा करने से बचते हुए अपने आपको संतुलित रख
और तदनन्तर जो कुछ करणीय है, शांतिपूर्वक वही करना, य
सम्यक जीवन-व्यवहार है। यही विपश्यना है। पर को बदल
के प्रयत्न के पूर्व स्व को बदलना ही शुद्ध चित्त का व्यवहार-कौशल
है। यही विपश्यना है। विपश्यना आत्म-संयम है, आत्म-संतुल
है, आत्म-समता है, आत्म-सामायिक है।

विपश्यना आत्म-शुद्धि है, आत्म-विमुक्ति है। विकार-विमु
शुद्ध चित्त में मैत्री और करुणा का अजस्र झरना अनायास झर
रहता है। यही मानव जीवन की चरम उपलब्धि है। यही विपश्य
साधना की चरम परिणति है।

विपश्यना की सिद्धि कठिन अवश्य है, पर असंभव नहीं
कष्टसाध्य अवश्य है, पर असाध्य नहीं। विपश्यना स्व-प्रयत्नसा
है। केवल एक या एकाधिक विपश्यना शिविरों में सम्मिलित
जाना ही सब कुछ नहीं है। यह तो जीवनभर का अभ्यास है
विपश्यना का जीवन जीते रहना होगा, सतत सजग, सतत सचे
सतत सयत्न।

अतः अदम्य उत्साह के साथ विपश्यना के इस मंगल-पथ पर आगे बढ़ते चलें। गिरते-पड़ते और फिर खड़े होकर, घुटनों को सहलाकर, कपड़ों को झाड़कर आगे बढ़ते चलें। हर फिसलन अगले कदम के लिए नई दृढ़ता और हर ठोकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नई उमंग और नया उत्साह पैदा करने वाली हो। अतः रुकें नहीं, अटके नहीं, चलते जायँ। कदम-कदम आगे बढ़ते जायँ। यही मंगल विधान है। ★

काट लिए दुख द्वंद

अंधभक्ति ना धर्म है, नहीं अंध विश्वास।
बिन विवेक श्रद्धा जगे, करे धर्म का नाश॥
मान मोह माया मिटे, सहज सरल ऋजु होय।
क्रोध मिटे कटुता मिटे, सही विपश्यी सोय॥
पल पल जाग्रत ही रहे, शुद्ध सत्य का बोध।
मन की समता स्थिर रहे, होवे दुःख-निरोध॥
क्षण क्षण मंगल ही जगे, क्षण क्षण सुख ही होय।
क्षण क्षण अपने कर्म पर, सावधान यदि होय॥
पर ही देखे सर्वदा, स्व देखे ना कोय।
सम्यक दर्शन स्वयं का, विपश्यना मे होय॥
जो ना देखे स्वयं को, वही बांधता बंध।
जिसने देखा स्वयं को, काट लिए दुख द्वंद।

15. धर्मचक्र

हमारे भीतर जो प्रतिक्षण लोकचक्र चल रहा है, इससे छुटकारा पाने के लिए धर्मचक्र प्रवर्तित करना होगा। लोकचक्र हमारे समस्त दुखों का मूल है। धर्मचक्र सभी दुखों का निरोधक है।

लोकचक्र क्या है ? लोकचक्र मोह, मूढ़ता है। लोकचक्र अज्ञान, अविवेक, अविद्या है जिसके कारण हम निरंतर राग और द्वेष की चक्की में पिसते रहते हैं। हमारी छह इन्द्रियां– आंख, नाक, कान, जिह्वा, शरीर की त्वचा और मन तथा इन इन्द्रियों के छह विषय– रूप, गंध, शब्द, रस, स्पर्शव्य और कल्पनाएं; इनका परस्पर संस्पर्श होता रहता है। नाक का गंध से, कान का शब्द से, जिह्वा का रस से, काया का किसी भी स्पर्शव्य पदार्थ से, मन का कल्पना से। संस्पर्श होते ही तत्क्षण हमारे चित्त में कोई संवेदना जागती है। यदि वह संवेदना हमें प्रिय लगी तो हम तत्संबंधी विषय में चिपकाव यानी राग पैदा कर लेते हैं। यदि अप्रिय लगी तो दुराव यानी द्वेष पैदा कर लेते हैं। चाहे राग उत्पन्न हो अथवा द्वेष, दोनों ही हमारे मन में तनाव-खिंचाव और उत्तेजना पैदा करते हैं। इससे समता नष्ट होती है। विषमता आरंभ होती है। दुख-संधि होती है। दुख आरंभ होता है। यही लोकचक्र का आरंभ हो जाना है।

नासमझी से हम जो उत्तेजना पैदा कर लेते हैं वह गहरी आसक्तियों में परिवर्तित होकर दूषित भवचक्र के रूप में बढ़ती है और हमें व्याकुल, व्यथित बनाती और हमारा दुख संसार बढ़ाती है। इसी भवचक्र को काटने के लिए हमारे भीतर धर्मचक्र जागते रहना बहुत आवश्यक है। यदि धर्मचक्र जागता है तो विवेक, विद्या, और होश जागता है। जैसे ही किसी इन्द्रिय और उसके विषय के संस्पर्श से चित्त में कोई संवेदना पैदा हो, प्रिय या अप्रिय, सुखद या दुखद- वैसे ही पागलों की तरह उस विषय के प्रति राग-रंजित और द्वेष-दूषित होने के बजाय उसके नश्वर-निस्सार स्वभाव को समझकर प्रज्ञा जागे, अनासक्तिभाव जागे। इसी से लोकचक्र का प्रवर्तन रुकता है। उसका विस्तार नहीं हो पाता। यही धर्मचक्र-प्रवर्तन है। धर्मचक्र-प्रवर्तन का यह प्रत्यक्ष लाभ है। विपश्यना साधना के सतत अभ्यास द्वारा अपने अंतर्मन में अनुभूत होने वाली प्रत्येक संवेदना को जानें और जानकर उसमें उलझें नहीं। तटस्थ बने रहें। यों धर्मचक्र प्रवर्तित रखें।

धर्मचक्र प्रवर्तित रखने में हमारा मंगल-कल्याण है। ★

बंधन खुलते जायं

राग सदृश ना रोग है, द्वेष सदृश ना दोष।
मोह सदृश ना मूढ़ता, धर्म सदृश ना होश॥
राग द्वेष की मोह की, जब तक मन में खान।
तब तक सुख का, शांति का, जरा न नाम निशान॥
तीन बात बंधन बंधे, राग द्वेष अभिमान।
तीन बात बंधन खुले, शील समाधि ज्ञान॥
धर्मचक्र चालित करें, प्रज्ञा लेयं जगाय।
जिससे सारी गंदगी, मन पर की हट जाय॥
सुख दुख आते ही रहें, ज्यों आवें दिन रैन।
तू क्यूं खोवे बावला! अपने मन की चैन॥
भोक्ता बन कर भोगते, बंधन बंधते जायं।
द्रष्टा बन कर देखते, बंधन खुलते जायं॥

16. सम्यक धर्म

सम्यक माने ठीक, सही, यथार्थ, सत्य। अतः धर्म माने सत्य धर्म, सत् धर्म, सद्धर्म। ऐसा धर्म जिसमें मि को कहीं स्थान नहीं, जिसका कल्पना से कोई वास्ता नह कोई उपदेशक किसी मिथ्या बात को, मिथ्या ही क्यों सही भी अंधश्रद्धा से महज कल्पना के स्तर पर मान लेने का आ तो समझो वह सम्यक नहीं, मिथ्या धर्म का उपदेश कर रहा है

सम्यक माने शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष, निष्कलुष। अतः धर्म माने शुद्ध धर्म, ऐसा जिसमें पाप के लिए किंचित भी नहीं। जिसका जोर-जबरदस्ती से कोई वास्ता नहीं। धर्म निर्म है तो सहज स्वीकार्य होता है, क्योंकि न्यायसंगत होता है, यु होता है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी बात ननु-नच किए बिना, तर्क किए बिना, अक्ल की दखल दिए बिना आंख मूंदकर इसलि लो कि न मानने पर कोई अदृश्य सत्ता तुम्हें असह्य नारकीय का दंड देगी और मान लेने पर प्रसन्न होकर तुम्हारे सारे पा देगी और स्वर्ग के सुख का वरदान देगी तो समझो वह सम्य मिथ्या धर्म की छलना है।

सम्यक माने अक्षत, अखंड, अविकल, पूर्ण। सम्यक धर्म माने परिपूर्ण परिपक्व धर्म। धर्म की परिपूर्णता, परिपक्वता उसे पूरी तरह धारण कर लेने में है। महज पठन-पाठन, चर्चा-परिचर्चा धर्म की अविकल्प परिपूर्णता नहीं है। बुद्धि-क्रीड़ा और बुद्धि-रंजन धर्म की पूर्ण परिपक्वता नहीं है। पढ़े-सुने धर्म का चिंतन-मनन करके उसे सम्यक रूपेण धारण कर लेना, जीवन का अंग बना लेना, सहज स्वभाव बना लेना ही उसकी परिपूर्णता है, परिपक्वता है। यही धर्म का सम्यकत्व है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी वाणी को सुन लेने मात्र से अथवा अमुक धर्मग्रंथ को पढ़ लेने मात्र से अथवा अमुक दार्शनिक सिद्धांत को स्वीकार कर लेने मात्र से तुम्हारी मुक्ति हो जायगी, धर्म धारण न भी करो तो भी अदृश्य सत्ता इसी बात पर तुम पर रीझ कर तुम्हारे सारे पाप धो देगी, तो समझो कि धर्म सम्यक नहीं, मिथ्या है, मायावी है।

सत्य, स्वच्छ धर्म जीवन में उतरना ही चाहिए–तो ही सम्यक है, कल्याणप्रद है अन्यथा भ्रामक है, दुखदायी है। जिस किसी को धर्म के सम्यक स्वरूप का जरा भी बोध हो जाता है वह सदैव इस भ्रांति से बचने का प्रयत्न करता है। धर्म को रूढ़ि-पालन और बुद्धि-किलोल का विषय नहीं बनने देता। सारा बल धारण करने के अभ्यास में ही लगाता है। इस संबंध में हमारे देश कीं एक बहुत उज्ज्वल पुरातन कथा है। कुरु प्रदेश का एक बालक, राजकुमार युधिष्ठिर। अन्य राजकुमारों के साथ उसे भी गुरु से दो छोटे-छोटे वाक्यों में धर्म के उपदेश मिले। औरों ने उन वाक्यों को रट कर गुरु महाराज की शाबाशी शीघ्र सहज हासिल कर ली। पर उस बालक के लिए

तो सम्यक धर्म ही सही धर्म था। वह उसे धारण करने के
में दिन बिताने लगा और इस कारण नासमझ गुरु के कोप
हुआ। दंड मिला सम्यक-मार्गी सुबोध राजकुमार को, ज
था दुर्बोध आचार्य। पर बेचारा आचार्य भी क्या करता? रू
परंपराओं का शिकार था। छिलकों को धर्म मानने का
उसके लिए तो धर्म के ये छिलके ही अधिक मूल्यवान थे। इन
को धर्म के कुछ बोल सिखा दूंगा। वे रट कर याद कर
पर माता-पिता पूछेंगे–पाठशाला में क्या पढ़ा? तो विद्या
उन धर्म-वाक्यों को तोते की तरह सुना देंगे। मां-बाप खुश
उठेंगे। आचार्य का श्रम सफल माना जाएगा। वह पुरस्
आजीविका सुगमतापूर्वक चलती रहेगी। धर्म पढ़ने-पढ़ाने
मूल्य था उसकी नजरों में। धर्म का यह ओछा और छिछला
न जाने कब से चला आ रहा है। आज भी कायम है अ
है भविष्य में भी चलता ही रहेगा। पढ़ना, सुनना व या
का काम सरल है, पर जीवन में उतारने का काम कठिन
कठिन है। इस कठिन को कोई नहीं करना चाहता। यही
कि हम धर्म के नाम पर अधिकतर मिथ्याधर्म के ही
रहते हैं। सम्यक धर्म हमसे कोसों दूर रहता है। समीप अ
कैसे? जब मिथ्या को ही सम्यक मान बैठते हैं तो मि
हो जाता है, सम्यक गौण। अतः सम्यक को समीप लाने
प्रयत्न भी तो नहीं करते।

काया, वाणी और चित्त के सभी कर्मों में धर्म सम
ही सम्यक हो। यदि इसी को जीवन का चरम लक्ष्य मान

में जुट जाएं तो जितनी-जितनी सफलता मिले, उतना-उतना लाभ हो। पूरी सफलता मिल जाय तो निस्संदेह पूरा लाभ हो। सर्वांगीण, सम्यक धर्म को जीवन में उतारने का अभ्यास करते रहने में हमारा सही मंगल समाया हुआ है। बिना किसी जाति या संप्रदाय के भेदभाव के, सब का सही मंगल इसी में समाया हुआ है। देखें, धर्म का सर्वांगीण सम्यक स्वरूप क्या है?

हमारी वाणी सम्यक हो। वाणी सम्यक तब होती है जबकि हम झूठ-कपट, गाली-गलौज, कटु-कठोर, चुगली-निंदा और ऊल-जलूल बकवास भरे वचनों से वस्तुतः छुटकारा पा लेते हैं।

हमारे शारीरिक कर्म सम्यक हों। शारीरिक कर्म सम्यक तब होते हैं जबकि हम हिंसा-हत्या, चोरी-जारी, नशे-पते आदि के दुष्कर्मों से यथार्थतः मुंह मोड़ लेते हैं।

हमारी आजीविका सम्यक हो। आजीविका तब सम्यक होती है जबकि हम अपने जीवनयापन के साधनों को वास्तविकता के स्तर पर शुद्ध करते हुए छल-छद्म, जालसाजी, तस्करी-चोरी को सर्वथा त्यागते हैं और ऐसा कोई व्यवसाय नहीं करते जिससे कि धन-संचय की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अन्य अनेकों को हानि पहुँचाएं।

हमारे प्रयत्न सम्यक हों। प्रयत्न तब सम्यक होते हैं जबकि हर प्रयत्न सचमुच एक ऐसा व्यायाम बन जाता है जिससे कि हमारा मन दुर्गुण-विपन्न और सद्गुण-संपन्न हो।

हमारी जागरूकता सम्यक हो। जागरूकता तब सम्यक होती है जबकि हम अपने कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों के प्रति सजग

सचेत रहने के वास्तविक अभ्यास में जुट जाते हैं।

हमारी समाधि सम्यक हो। समाधि तब सम्यक होती है सतत अभ्यास द्वारा हम अपने चित्त को किसी सत्य आलं सहारे देर तक सजग, समाहित रख सकने में सचमुच सफ हैं।

हमारे संकल्प सम्यक हों। संकल्प तब सम्यक होते हैं हम अपनी चित्तधारा पर से हिंसा, क्रोध, द्वेष, दौर्मनस्य की वास्तव में दूर कर देते हैं।

हमारे दर्शन सम्यक हों। दर्शन तब सम्यक होता है जब बुद्धि-किलोल से छुटकारा पाकर परम सत्य का यथार्थतः द लेते हैं।

दर्शन माने फिलॉस्फी नहीं समझें। अन्यथा किसी मत- की फिलॉस्फी के सिद्धांतों का चिंतन-मनन ही हमारे लिए दर्शन बन बैठेगा और इस प्रकार मिथ्या दर्शन में उलझे रह दर्शन माने साक्षात्कार। परंतु साक्षात्कार का भी अर्थ यह बार-बार के निदिध्यास द्वारा यथार्थ से सर्वथा दूर किसी कल्प रंग-रोशनी, रूप-आकृति को बंद आंखों से देख कर इस मिथ को ही सम्यक दर्शन मानने लगें। दर्शन माने सत्य की स्व अपने ही भीतर स्थूल सत्य से आरंभ करके सूक्ष्म से सूक्ष्मत की स्वानुभूति करते हुए जब परम सत्य की स्वानुभूति होत ही दर्शन सम्यक होता है। सम्यक दर्शन के इस अनुभूतिजन्य पर जो ज्ञान होता है वही ज्ञान सम्यक है। अन्यथा बुद्धि-किल

मिथ्या ज्ञान है। सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों की उपलब्धि साथ-साथ होती है। सम्यक दर्शन हो जाय तो सम्यक ज्ञान, सम्यक बोध हो ही जाता है जो कि अभ्यासजन्य धर्म का चरमोत्कर्ष है।

सतत अभ्यास करते-करते सर्वांगीण धर्म को जब हम सम्यक बनाते हैं, परम परिशुद्ध करते हैं, तो जीवन-व्यवहार में स्वभावतः सर्वतोमुखी उन्नति होती है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों में से अशुद्धियां दूर होती हैं। जीवन कृतकृत्य होता है, धन्य होता है। त्रिविध आचरण स्वतः सुधरते जाते हैं। चारित्र्य सम्यक होता जाता है। यदि ऐसा न हो और केवल किसी संप्रदाय-विशेष की रूढ़ि-परंपराओं का पालन करते हुए अपने आपको सम्यक चारित्र्यवान कहें तो धोखे में पड़ते हैं। चित्त विकारों से मुक्त हो नहीं, व्यवहार में सौम्यता आए नहीं, पारस्परिक बर्ताव में शुद्धि आए नहीं, फिर भी सम्यक चारित्र्य कहें तो मिथ्या को ही सम्यक मान लेने की भ्रांति होगी।

धर्म की तीन मंजिलें हैं– परियत्ति, पटिपत्ति, पटिवेध। परियत्ति माने धर्म के शास्त्रीय ज्ञान की निपुणता। पटिपत्ति माने धर्मपंथ का स्वयं प्रतिपादन। पटिवेध माने मार्ग का अनुशीलन करते हुए, सारी विघ्न-बाधाओं का भेदन कर धर्म के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेना। धर्म का परियत्ति अंग निरर्थक नहीं है। परंतु वह सार्थक भी तभी होता है जबकि उससे आगे पटिपत्ति और पटिवेधन का प्रयोग कर लिया जाय।

धर्म महज शास्त्रीय ज्ञान में नहीं, आचरण में है। धर्म से मान्यता में नहीं, सिद्धांतों का जीवन जीने में है। धर्म आच उतरे तो ही परिपूर्ण होता है। सम्यक होता है। अन्यथा मिथ मिथ्या रहता है। चाहे उसे बौद्ध कहें या जैन, ईसाई कहें य मुस्लिम कहें या यहूदी, पारसी कहें या सिक्ख या और कुछ।

किसी भी संप्रदाय के धर्मगुरु से पूछ देखें। वह यही कहे धर्म की उपरोक्त बातें यानी काया, वाणी और चित्त के कर शुद्ध करने की बातें हमारे ही धर्म की हैं। कोई नहीं कहेगा हमारे धर्म के बाहर की बातें हैं। तो यह बात सब के धर्म की सार्वजनीन हुई। संप्रदाय-विशेष की नहीं। परंतु साथ-साथ हम भी देखते हैं कि सभी संप्रदायों में ऐसे लोगों की संख्या ही अ है जो कि अपने आपको धर्मवान तो समझते हैं परंतु धर्म के को धारण नहीं करते। धर्म को जीवन में नहीं उतारते। अत रोग सार्वजनीन है, विश्वव्यापी है। किसी एक संप्रदाय-विशेष नहीं।

हम धर्म का जीवन नहीं जी रहे हैं यह जितना बुरा है हजारों गुना बुरा यह भ्रम है कि वस्तुतः हम धर्म का ही जीवन रहे हैं। विचित्र विडंबना है। रोगी होते हुए भी अपने आप को मान रहे हैं। अजीब नशा छाया है हम पर। सब संप्रदाय वाल एक-सा नशा। सभी कुओं में भांग पड़ी है। किसी भी संप्रदा हों, अपने-अपने संप्रदाय की किसी विशिष्ट वेश-भूषा को धारण लें अथवा अपनी परंपरा का कोई रूढ़ कर्मकांड पूरा कर लें अ अपने संप्रदाय के शास्त्रों द्वारा उद्घोषित किसी दार्शनिक सिद्धांत

मान्यता अपने मन में कट्टरता से भर लें और महज इसी से समझ वैठें कि हम धर्म का जीवन जी रहे हैं; भले हमारे दैनिक जीवन में धर्प का नामोनिशान न हो। धर्म के नाम पर कितना गहरा नशा है यह। पश्चिम के किसी समझदार आदमी ने कहा है– धर्म अफीम का नशा है। जो धर्म नहीं है उसे धर्म मानकर जीने में अफीम का ही नहीं, बल्कि उससे भी बड़ा नशा है। अफीम का नशा तो समय पाकर उतर जाता है, परन्तु इस मिथ्या धर्म के नशे में डूबा हुआ व्यक्ति सारा जीवन बेहोशी में बिता देता है। नशा उतरने का नाम नहीं लेता। रोज-ब-रोज तेज हुए जाता है।

अपना तथा सबका सही मंगल चाहने वाले व्यक्ति को इस नशीले खतरे से बचना चाहिए और यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि धर्म की चरम परिणति, उसका अतिंम लक्ष्य, उसका एकमात्र उद्देश्य उसे जीवन में उतारने में है। जो धर्म पढ़ा-सुना गया, सोचा-समझा गया; पर धारण नहीं किया गया वह सम्यक नहीं है, परिपूर्ण नहीं है, अभी कच्चा है। कच्चे घड़े के सहारे नदी पार करना खतरनाक है। उसे पकाएं। हजार कठिनाइयों के बावजूद भी उसे धारण करने के अभ्यास को ही महत्त्व दें। कहीं ऐसा न हो जाय कि अभ्यास के रास्ते कोई मील का पत्थर हमें रोक ले, कोई मृग-मरीचिका हमें भ्रांत कर दे और हमारी प्रगति रुक जाय। जिस धर्म को हम धर्म मान रहे हैं वह सम्यक है अथवा मिथ्या, इस हकीकत को बार-बार परखते रहें और परखने का एकमात्र तरीका यही है कि धर्म जीवन में उतर रहा है या नहीं। हमारे दैनिक व्यवहार में आ रहा है या नहीं ? हमारा भला इसी में है कि जब हम देखें हमारे जीवन में धर्म

नहीं उतर रहा है तो भले ही हम ऐसी वेश-भूषा धारण क
वैसी, ऐसे क्रियाकांड करते हैं या वैसे, इस संप्रदाय में
या उसमें, ऐसी दार्शनिक मान्यता मानते हैं या वैसी, आ
या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या अनीश्वरवादी, द्वैतवा
अद्वैतवादी; हम इस बात को स्वीकारते हुए जीएं कि हम
नहीं हैं, कदापि नहीं हैं। जीवन में उतरे तो ही धर्म है, व
है। हम महज तर्क, श्रद्धा, रूढ़िपालन, और दार्शनिक म
स्तर पर ही धर्म को स्वीकार करके न रह जायँ, बल्कि वा
के स्तर पर उसे जीवन में उतारें-तो ही धर्म सम्यक है, तो ही कल
है, तो ही मंगलकारी है।

बिना कर्म सम्यक हुए

जीवन में उतरे बिना, धर्म न सम्यक होय।
काया, वाणी, चित्त के, कर्म न निर्मल होय॥
बोले गर्व गुमान से, मेरा धर्म महान।
संप्रदाय को समझता, धर्म मूढ़ नादान॥
रूढ़ि और पाखंड के, मिथ्या सारे कर्म।
बिना कर्म सम्यक हुए, सम्यक होय न धर्म॥
भिन्न मतों की मान्यता, दर्शन के सिद्धांत।
धर्म छुटा, उलझन बढ़ी, सभी हो गए भ्रांत॥
तत्त्वों के व्याख्यान में, गई जिंदगी बीत।
कोरे बुद्धि किलोल से, हुआ न चित्त पुनीत॥
सम्यक दर्शन के बिना, सम्यक ज्ञान न होय।
बिन दर्शन बिन ज्ञान के, सम्यक चरित न होय॥

17. सत्य ही धर्म है

सत्य के अतिरिक्त धर्म की और क्या व्याख्या सकती है? सत्य ही धर्म है, असत्य अधर्म। यहां सत्य अर्थ केवल वाणी की सच्चाई ही नहीं, बल्कि धर्म शब्द की इसका भी वही व्यापक अर्थ है- यानी स्वभाव, गुण, नियम, वि प्रकृति के अपने गुण-स्वभाव हैं, नियम-विधान हैं। उन नियम-वि की, उन धर्मों की सच्चाई से सारा सजीव, निर्जीव चराचर विश्व हुआ है। इस व्यापक अर्थ में सत्य और धर्म पर्यायवाची शब्द हैं

प्रकृति के स्वभाव की सच्चाई हम जितनी-जितनी समझें स्वीकारें उतने-उतने धर्म को ही स्वीकारते हैं। सच्चाई तीन प्र से स्वीकारी जाती है। स्वीकारने का पहला कदम श्रद्धा की भू से आरंभ होता है। किसी बुद्ध ने, ज्ञानी ने अपने बोधि-ज्ञान मिली इस सच्चाई को शब्दों में व्यक्त किया। हमारे मन में उस महा के प्रति श्रद्धा जागी और हमने उसके शब्दों को स्वीकार किया। शब्द-सत्य को स्वीकारना हुआ। परंतु शब्द-सत्य में सच्चाई परिपूर्णता नहीं हुआ करती। जब किसी अनुभूतिजन्य ज्ञान को श पर उतारा जाता है, यानी जब कोई सत्यद्रष्टा, ऋतद्रष्टा ऋषि शब्द

बनता है तो सत्य का कुछ अंश नष्ट हो ही जाता है। इसलिए शब्द-सत्य आंशिक सत्य ही होता है। क्योंकि शब्द और भाषा की अपनी सीमाएं हैं। उन्नत से उन्नत भाषा भी आंतरिक अनुभूतियों को स्पष्टतया व्यक्त कर सकने में असमर्थ रहती है और फिर सत्य-शोधकों की कुछ अनुभूतियां ऐसी हैं जो वर्णनातीत होती हैं। शब्दों द्वारा उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके बारे में नेति-नेति ही कहा जाता है। कहने वाला केवल इतना ही कहकर रह जाता है कि ऐसा तो नहीं है, ऐसा तो नहीं ही है। तीन आयामों को देखने-समझने वाले लोगों को चौथे आयाम की जानकारी किन शब्दों में कराई जाय? इंद्रियातीत अवस्था की अनुभूति इंद्रियों के माध्यम से कैसे समझाई जाय? समझाने की कोशिश करें तो कोई समझे भी कैसे? अतः हर समझदार आदमी के लिए इन अनुभवों की चर्चा करते हुए नकारने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। ऐसा परम सत्य कभी शब्द-सत्य बन ही नहीं सकता।

इंद्रियातीत अनुभूति के लिए तो शब्द असमर्थ हैं ही, परंतु ऐंद्रिय अनुभूतियों को भी शब्दों में ठीक-ठीक नहीं ढाला जा सकता। सूक्ष्मतर आंतरिक अनुभूतियां अधिकतर गूंगे का गुड़ ही बनी रह जाती हैं। व्यक्त करने के सभी प्रयत्न अधूरे रहते हैं। भाषा की सीमाओं के अतिरिक्त बोलने व लिखने वाले की और उससे भी अधिक सुनने व पढ़ने वाले की अपनी-अपनी सीमाएं हैं जो कि शब्द-सत्य के पूर्ण सत्य बनने में बाधक होती हैं। कहने वाला जो कहना चाहता है उसे ठीक-ठाक कह न सके और जो कहे वह जिस अर्थ में कहा गया है, सुनने वाला उस अर्थ में समझ न सके, यही शब्द-सत्य की अपूर्णता है।

परंतु फिर भी अनुभूतिजन्य सत्य को शब्दों में उ
प्रयत्न होते ही हैं। कुछ अंशों में उनका लाभ हुआ
कुछ अंशों में हानि भी। जहां उन्हें खुले दिमाग में
गया, वहां लाभ हुआ। परंतु जहां उन्हें पूर्ण सत्य मा
हठधर्मी हुई वहां सांप्रदायिक अंधविश्वास और अंध-मा
को बढ़ावा मिला। लोगों के दिमाग पर ताले लगे। सत्य अ
के क्षेत्र में मानव की प्रगति रुकी।

परंतु आखिर मानव तो मनुपुत्र है न? मन से उप
मनन-चिंतन करके ही किसी सत्य को स्वीकारना उसका ज
सहज स्वभाव है। सांप्रदायिक नेताओं द्वारा उसके चिंत
की प्रतिभा को कुंठित कर उसे जड़भरत बनाए रखने के
प्रयत्नों के बावजूद भी मानव समाज का एक प्रबुद्ध वर्ग शब्
को जांचने-परखने, बुद्धि के तराजू पर तोलने, तर्क की
पर कसने और, युक्तियों के हथौड़े की चोट लगाने का
करता ही रहा है। इसी से सत्य का एक दूसरा स्वरूप
हुआ जिसे अनुमान सत्य या बौद्धिक सत्य कहा गया। हर स
को बुद्धि की भट्टी में तपाया जाना चाहिए। उसकी जांच में
लगाया जाना चाहिए। युक्तियुक्त और तर्कसंगत लगे तो ही स्वी
चाहिए। इसी नीति के कारण सत्य के अनुसंधान के क्षे
मानव की प्रगति आरंभ हुई। अंधविश्वासों, अंधमान्यताओं
दकियानूसी सांप्रदायिक कठमुल्लेपन को गहरी चोटें लगीं। मा
विकास का रास्ता खुला। अंधश्रद्धा और भक्तिभावावेश के
भरे माहौल से और शब्द-सत्य को संपूर्ण सत्य मानने के

भरे घने कुहरे से बाहर निकलने में सफलता मिली। किसी बात को आंख मूंदकर मान लेने की आदत छूटी। ऐसा क्यों? यह जानने की उत्सुकता बढ़ी।

परंतु जिस प्रकार शब्द-सत्य की मान्यता अधिकतर अंधविश्वासों से दूषित हो उठी, उसी प्रकार अनुमान यानी बौद्धिक सत्य की मान्यता भी बहुधा शुष्क तर्क-वितर्क के घने जंगल में ही भटक कर रह गई। वैसे भी इन दोनों से यानी शब्द और अनुमान से सत्य का आभास ही हो सकता है, अनुभूति नहीं। सत्याभास यानी धर्माभास। और जहां धर्माभास होता है वहां धर्म के नाम पर भ्रांति फैलने की ही आशंका रहती है। सत्य की अनुभूति ही धर्म की सही अनुभूति है। अत: इन दोनों के आगे की कल्याणकारी मंजिल प्रत्यक्ष सत्य की मंजिल है। प्रत्यक्ष सत्य यानी स्वानुभूतियों के स्तर पर प्रगट हुआ सत्य। आध्यात्मिक सत्य के सूक्ष्म आभ्यांतरिक अनुसंधान की यही सही यात्रा है। यही धर्म की गहरी खोज है। इन प्रत्यक्ष अनुभूतियों द्वारा जितना-जितना सत्यांश प्रकट होता है मानव उतना-उतना धर्म-पथ पर आगे बढ़ता है।

परंतु अनुभूतियों के स्तर पर सत्य धर्म का स्वयं अन्वेषण कर उसे स्वीकारना कठिन काम है। जबकि अंधविश्वास के स्तर पर किसी पराए कथन को स्वीकार कर लेना सरल है। इसीलिए मानव जाति के लंबे इतिहास में अधिकतर शब्द-सत्य के आधार पर अंधविश्वासी संप्रदाय ही पनपे। कुछ थोड़े से लोगों ने अंधविश्वास को ठुकराकर बुद्धि का प्रयोग किया। परंतु वे भी बहुधा अनुभूति

के क्षेत्र में शून्य रह जाने के कारण बौद्धिक मत-मतांतर संप्रदायों के प्रणेता अथवा अनुयायी ही हो होकर रह गए आंतरिक अनुभूति होती है वहां सांप्रदायिक भेद-भाव की गुंजाइश कम रहती है। अन्यथा शब्दों और बौद्धिक तर्क-की भिन्नता विभिन्न संप्रदायों का पोषण करती है। आंतरिक अनु भी निष्पक्ष सत्य-शोधन हेतु हों तो ही शुद्ध धर्म को ब हैं अन्यथा पूर्वाग्रहपूर्ण हों तो ये भी मत-मतांतरों को बढ़ावा

वस्तुतः सत्य तो एक ही है। भिन्न-भिन्न कैसे होगा? प्रकृति का विधान एक ही है अलग-अलग कैसे होगा? किसी की प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरा हुआ यह विधान जब का चोला पहनता है तो ये चोले अवश्य भिन्न-भिन्न हो भाषा, शब्द, वक्ता भिन्न-भिन्न होने के कारण सत्य भी भिन्न लगने लगते हैं। जब कोई भक्त किसी महापुरुष द्वारा उ सत्य को स्वयं अपनी अनुभूति पर तो उतारता नहीं, परंतु अंधश्रद्ध भावावेश के स्तर पर उसकी वाणी को स्वीकृति देकर ही आपको धन्य मान बैठता है तो उस वाणी और उन शब्द साथ उसका गहरा चिपकाव हो जाना स्वाभाविक है। उ शब्द ही सत्य नजर आते हैं, बाकी सब मिथ्या। यहीं से स की बुनियाद पड़नी शुरू होती है। सत्य का साक्षात्कार करने किसी संप्रदाय से कैसे बँधेगा? परंतु शब्दों में लोट-पलोट वाला संप्रदाय का पोषण करता है। पहले के लिए भाषा माध्यम है, अतः गौण है। परंतु दूसरे के लिए भाषा और ही प्रमुख हैं।

यदि मैं हिंदू संप्रदाय में हूं तो 'यम-नियम' शब्द का प्रयोग हुआ देखकर प्रसन्न हो उठता हूं; बौद्ध हूं तो 'पंचशील'', जैन हूं तो 'अणुव्रत' और ईसाई हूं तो 'टेन कमांडमेंट्स' के शब्दों को सुनकर गर्व से छाती फुला लेता हूं। लेकिन धर्म की वास्तविक सच्चाई जीवन में उतरी या नहीं, शील-सदाचार जीवन का अंग बना या नहीं, अपनी संकीर्ण सांप्रदायिक वृत्ति के कारण मैं इसे कतई महत्त्व नहीं देता। केवल शब्दों को ही 'मेरा धर्म' 'तेरा धर्म' कहकर अच्छे-बुरे की संज्ञा देता रहता हूं।

'सम्यकज्ञान, सम्यकदर्शन, सम्यकचारित्र्य' इन शब्दों का प्रयोग किसी भी जैन को कर्णप्रिय लगता है। इसी प्रकार 'शील, समाधि, प्रज्ञा' किसी बौद्ध को, 'स्थितप्रज्ञ, अनासक्त' किसी गीताभक्त को और 'होली इनडिफरेंस' का प्रयोग किसी ईसाई को। वैसे ही किसी को धर्म शब्द सुनते ही लगता है मानो कानों में चांदी की घंटियां बज रही हों और उसी व्यक्ति को 'धम्म' शब्द सुनते ही लगता है मानो छाती पर मूसलों के धमाधम्म धमाके लग रहे हों। इसके ठीक विपरीत किसी दूसरे व्यक्ति को ''धम्म'' शब्द में देव-दुंदुभी जैसा श्रुति-मधुर मंगल-घोष सुन पड़ता है और 'धर्म' शब्द उसे कांटे की तरह चुभता है। कैसी आसक्ति पैदा कर ली है हमने शब्दों के साथ। इसी कारण इनके अर्थों की ओर ध्यान नहीं जाता और ध्यान चला भी जाय तो वह भी उतना ही बेमाने है जबकि अर्थ जीवन में उतरते नहीं। संप्रदाय और धर्म में यही मौलिक भेद है। संप्रदाय शब्दों को महत्व देता है और धर्म अर्थों को तथा उन्हें धारण करने को। हम अपने

आपको हजार संप्रदाय-विहीन कहें, परंतु सच्चाई यही है कि
लिए संप्रदाय प्रमुख हो गए हैं; इसीलिए शब्द प्रमुख ह
हैं, अर्थ गौण। प्रत्यक्ष अनुभूति तो लुप्तप्राय हो गयी है।
देखो शब्द-सत्य के पीछे पागल है। बहुत थोड़े हैं जो अ
सत्य की ओर बढ़ते हैं। प्रत्यक्ष सत्य तक जाने की किस
फुर्सत ही नहीं और कोई उसकी आवश्यकता भी महसूस
करता।

हम हिंदुओं की बांछें खिल जाती हैं जबकि कोई गै
गीता का कोई श्लोक अपने भाषण में उद्धृत करता है।
प्रकार हम बौद्धों की व जैनियों की हृदय-तंत्री के तार
लगते हैं जबकि कोई अबौद्ध या अजैनी धम्मपद या म
वाणी को अपने भाषणों में उद्धृत करता है। कैसा चिपकाव
कर लिया है हमने अपने-अपने संप्रदाय की वाणियों से।
परंपरा और परिवेश में हम जन्मे और पले हैं उसके धर्म
के प्रति श्रद्धा, आदर और झुकाव होने में कोई दोष नहीं, क
उन्हीं से हम प्रेरणा और मार्ग-दर्शन पाते हैं। परंतु दोष अ
से है, चिपकाव से है। यह हमारे चिपकाव का ही परिण
कि यदि वही सच्चाई कोई अन्य संप्रदाय वाला अपनी
में बोले और अपने महापुरुष द्वारा कही हुई बताए तो
मन कितना चिड़चिड़ा उठता है। सच्चाई पराई-सी लगत
इस चिपकाव का मुख्य कारण यही है कि हमारी श्रद्धा
रह गयी। उसका कोई फल नहीं हुआ। हमने अपने धर्म
की सच्चाई को महज श्रद्धा तक ही सीमित रखा। स्वानु

ने उसका स्वाद चखा नहीं। अतः हमारे लिए तो सदा शब्द ही सत्य रहे हैं। और जिन शब्दों में यह सच्चाई कही गई है वह हमारी परंपरा के हैं नहीं, इसीलिए हमारे लिए शब्दों के साथ-साथ सच्चाई भी परायी हो गयी है। परंतु जब हम उसी सच्चाई का स्वयं साक्षात्कार कर लेते हैं तो उसमें परायापन नहीं रह जाता। सत्य तो सत्य है, अलग-अलग कैसे होगा? संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिब्रू, अरबी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्द, शब्द-सत्य मानने वालों को अलग-अलग लगेंगे। परंतु इससे जरा आगे बढ़ें और थोड़ा-सा भी बुद्धि का प्रयोग करें तो यह बौद्धिक अनुमान-सत्य कई एक गुत्थियों को खोलने में सहायक होगा। सत्य से संबंध रखने वाली अनेक विभिन्नताएं दूर करेगा। परंतु जब स्वयं अनुभूतियों पर उतारने लगेंगे तो सच्चाई की सारी विभिन्नताएं शनैः शनैः दूर होंगी ही। सच्चाइयों में भेद नजर नहीं आयेगा, बशर्ते कि अनुभूति का प्रयोग पूर्वाग्रह-विहीन हो और सत्य-शोधन के लिए ही हो।

सत्य न अपना होता है न पराया। न पुराना होता है न नया। न बूढ़ा होता है न जवान। न बर्मी होता है न भारतीय। न हिंदू होता है न मुसलमान। सत्य सत्य है– सदा एक-सा, सर्वत्र एक-सा। परंतु किसी मान्यता को जब कोरी कपोल-कल्पनाओं पर आश्रित कर सत्य मानने लगते हैं तो विभिन्नता आती ही है। निष्पक्ष अनुभूतिजन्य सत्य में भेद नहीं हुआ करता। शब्द-सत्य और अनुमान-सत्य की सीमाओं को लांघकर जब हम प्रत्यक्ष सत्य को महत्त्व देने लगते हैं तो मिथ्या कल्पनाओं की जड़ें

हिलने लगती हैं। शुद्ध धर्म प्रतिष्ठापित होने लगता है। जो अ
पर उतरे वही सत्य, ऐसा मानकर चलना धर्म के रास्ते प
है। सत्य के, ज्ञान के, मुक्ति के रास्ते पर चलना है। ऐसे
में अंधविश्वास टिक नहीं सकता। अनृत, झूठ पनप नही
सत्य धर्म अनुसंधान का विषय है, अंधानुकरण का नहीं।

परंतु जहां संप्रदाय पनपता है वहां सांप्रदायिक नेता
समीप नहीं आने देते। सच्चाई को तर्क की कसौटी पर
नहीं देते। अनुभूतियों पर उतारना तो बहुत दूर की बात है
हैं धर्म में अक्ल को दखल नहीं। कैसा धर्म है यह जिसमें
को स्थान न हो? बिना अक्ल, बिना बोधि का धर्म, ध
हुआ? हां, यह ठीक है कि संप्रदाय में अक्ल का दख
होता, क्योंकि अक्ल आते ही संप्रदाय के टुकड़े-टुकड़े
हैं। वहां तो अंधविश्वास ही पनपता है, अनृत के धरा
अधर्म ही पनपता है। धर्म नहीं पनप सकता। जब आदमी
दिमाग को कैद कर लेता है तो सच्चाई का अनुसंधान
बंद हो जाता है। धर्म के पांव कट जाते हैं, उसकी आं
जाती हैं और वह लंगड़ा और अंधा होकर संप्रदाय बन
है। आदमी ने तब-तब सत्य की शोध करनी छोड़ी ज
कि 'बाबा वचन प्रमाण' वाला गुरुडम उसके सामने दीवार
खड़ा हो गया।

किसी भी संकीर्ण बुद्धि वाले सांप्रदायिक नेता को य
बना रहता है कि मेरे बाड़े की एक भेड़ भी यह बाड़ा

किसी दूसरे में न जा मिले। मेरे सभी अनुयायियों का भेड़-बकरियों और गाय-बैलों का सा अंधानुकरण वाला स्वभाव बना रहे। इसीलिए वह उन पर अपनी सांप्रदायिक मान्यताओं की गहरी वारुणी चढ़ाए रखता है। अनेक बेतुकी व असंगत बातों को मानने के लिए मजबूर करते रहता है। न माने तो नारकीय यंत्रणाओं का आतंक और माने तो मुक्ति-मोक्ष का प्रलोभन देता रहता है। उसकी नजरों में धर्म भले छूटे पर संप्रदाय बना रहे। क्या दशा हो गई है हम मनुपुत्रों की ? मनन-चिंतन का स्वभाव क्या खो बैठे, अंधसंप्रदाय का भूत सिर पर सवार कर लिया। हम अपने-अपने धर्म-ग्रंथों को बिना सोचे-समझे सत्य मानें और दूसरे धर्म-ग्रंथों को बिना पढ़े ही असत्य मानें, ऐसा भावावेश हमारे भीतर कूट-कूट कर भरा गया है। हमें धर्म से कोई लेना-देना नहीं। हमारे लिए संप्रदाय ही प्रमुख है। बुरे से बुरा अधार्मिक दुराचारी व्यक्ति भी यदि हमारे संप्रदाय में है तो भला, अन्यथा अच्छे से अच्छा धार्मिक सदाचारी व्यक्ति भी पराए संप्रदाय में है तो हमें आंखों नहीं सुहाता।

हम अपने मां-बाप से विरासत में जैसे अपनी शक्ल-सूरत पाते हैं, बोली-भाषा पाते हैं, वैसे ही अंधविश्वास व अंधमान्यताएं पाते हैं। अंधभक्ति का भावावेश पाते हैं। सांप्रदायिकता का वह आतंक प्रलोभन भी पाते हैं जो हमारी अंधमान्यताओं की जकड़ को मजबूत बनाता है। परंतु साथ-साथ मानवीय बौद्धिक संपदा के बीज भी पाते हैं। हम अपने मां-बाप से प्राप्त हुई शक्ल-सूरतें नहीं बदल सकते, पर इन मान्यताओं को अपनी बुद्धि के प्रयोग से और अपनी अनुभूतियों के बल पर अवश्य बदल सकते हैं।

जितनी काम की हों उन्हें रख सकते हैं, जो निकम्मी हों फेंक सकते हैं। अक्ल का बिल्कुल इस्तेमाल न करें, स्वा का जरा भी अभ्यास न करें तो बिना समझे ही उन अंधमा को अपनी शक्ल व सूरत की तरह वैसी ही बनाए रख हर चंद कोशिश करते हैं।

सत्य धर्म के अनुसंधान में अंधमान्यताओं के साथ कोई स नहीं हो सकता। जहां-जहां भी अंधमान्यताओं का आ वहां धर्म नहीं संप्रदाय है, और समझना चाहिए कि क स्वार्थवश या अज्ञानवश अपने बाड़े में बांधे रखना चाह सत्य और धर्म के लिए विचार, विमर्श और वाणी का स नितांत आवश्यक है। प्रत्यक्ष अनुभूतियों का अभ्यास उस अधिक आवश्यक है। इन पर बेड़ियां लगी हों तो समझ सत्य और धर्म से दूर भटक रहे हैं।

अनुमान और प्रत्यक्ष सत्य का गठबंधन बड़ा कल्या होता है। जो अनुभव करें उसे बौद्धिक स्तर पर समझें औ बौद्धिक स्तर पर समझें उसे अनुभूतियों के स्तर पर जानें, सत्य-शोध है। इस सत्य-शोध में शब्द-सत्य भूमिका मार्ग-निर्देशन का कार्य करता है, बशर्ते कि हम उसका खुले दिमाग से करें। लेकिन जब सत्य का शोधक किसी पूर्व-म का पक्षधर हो जाता है तो सत्य का अनुसंधान छूट जात फिर तो जीवन भर येन-केन-प्रकारेण अपनी मान्यता को सत्य करने में ही सारा परिश्रम लगा देता है।

किसी महापुरुष की अनुभूति-सिद्ध वाणी हो, उस पर हमारी बुद्धि की कसौटी की परख हो और उसके आधार पर हमारा प्रत्यक्षानुभूति का अभ्यास हो तो सत्य-धर्म का रथ ठीक दिशा में आगे बढ़ता है और गंतव्य तक पहुँचाता है। सत्य के इन तीनों महत्त्वपूर्ण अंगों का ठीक-ठीक उपयोग करते हुए हम असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर, बढ़ते चलें। इसी में हम सबका कल्याण, मंगल, भला समाया हुआ है। ★

सत्य सनातन एक

सत्य न दूजा हो सके, सत्य सनातन ए
बिन दर्शन बिन ज्ञान के, कल्पित हुए अनेक
शुद्ध सत्य ही धर्म है, अनृत धर्म न हो
जहां पनपती कल्पना, धर्म तिरोहित होय
मनन करे चिंतन करे, यही मनुज का ध
आंख मूंद पीछे चले, यह पशुओं का कर्म
शब्द बिचारा क्या करे? अर्थ न समझे को
अर्थ बिचारा क्या करे? धारण करे न कोय
अपने-अपने ग्रंथ से, हुआ अमित अनुराग
ग्रंथि बन गए ग्रंथ ही, मनुज बड़ा हतभाग
गीता हो या बाइबल, आगम त्रिपिटक होय
बोधि वचन होवे जहां, बुद्ध वचन है सोय

18. धर्मदर्शन

धर्म-दर्शन माने सत्यदर्शन। यहां दर्शन का अर्थ न फिलॉस्फी है, न तत्त्व-विवेचन है, न किसी रूप-आकृति को देखना ही। यहां दर्शन का अर्थ है प्रत्यक्ष सत्य की स्वानुभूति। जीवन-जगत की सच्चाइयों को, प्रकृति के सर्वव्यापी विधान को प्रत्यक्षानुभूति द्वारा जानना ही धर्मदर्शन है, सत्य-दर्शन है।

धर्म दुखों से छुटकारा पाने के लिए है और दर्शन है इसका वैज्ञानिक अभ्यास। प्रकृति के वे नियम जो हम पर हर क्षण लागू होते हैं, जिनका हमसे सीधा संबंध है उनको जानना, समझना, स्वीकारना और अपने आपको उनके अनुकूल ढालना, यही धर्मदर्शन का उद्देश्य है। दर्शन के अभ्यास द्वारा हम इसमें जितने-जितने पकते हैं, उतने-उतने धर्म में प्रतिष्ठित होते हैं, सुख-शांति के सच्चे अधिकारी होते हैं। धर्मदर्शन का अभ्यास हमारे आध्यात्मिक उत्थान का सोपान-पथ है।

प्रकृति के वे नियम जिनका हमारे दुखों से और दुख-विमोचन से, हमारे बंधनों से और बंधन-विमुक्ति से सीधा संबंध है, उन्हें जानना

और जानकर उनका अपने भले के लिए उपयोग करना ही
जो दुखों का कारण है उसका निवारण करना और जो दुख-
का उपाय है उसको धारण करना यही सर्वव्यापी विधान से
कराने वाला आत्महित व सर्वहितकारी धर्म है। प्रकृति का कार
वाला विधान सब पर लागू होता है। यह विधान न किसी
करता है न कृपा। कुदरत किसी का लिहाज नहीं करती। जो
तोड़ता है वह दंडित होता है, जो पालता है वह पुरस्कृत। अ
धर्म जलाना है, यह प्रकृति का विधान है। हम अपनी नासम
अग्नि का दुरुपयोग करते हैं तो अपनी तथा औरों की हानि
हैं और सदुपयोग करते हैं तो उसका भरपूर लाभ उठाते हैं
दुख व दुख-निरोध, हमारी नासमझी और समझदारी पर निर्भ
हैं। निर्गुण, निराकार, व्यक्तित्व-विहीन, सर्वव्यापी, अनंत विश्व-
यानी विश्व-धर्म में किसी के प्रति कोई पक्षपात का भाव है ही
यह विधान सब पर समानरूप से लागू होता है। जो इसमें
हुआ, वही दुख-मुक्त हुआ। जितना-जितना समरस हुआ, उतना
दुख-मुक्त हुआ। जब तक हम इस सच्चाई को ठीक-ठीक स
नहीं तब तक भटकते हैं और अपनी हानि करते हैं। ठीक-ठीक
लें तो भटकना छूट जाय। विधान यानी धर्म पालने के प्रयास
जायँ, ताकि अज्ञानवश विधान-विरुद्ध कर्मों के आचरण से ज
उठा रहे हैं उनसे छुटकारा पा लें।

मोटे-मोटे तौर पर खान-पान, रहन-सहन से संबंध रखने
कुदरत के जो कानून-कायदे हैं, उन्हें समझकर और उनके अ
चलकर हम शरीर से स्वस्थ रहते हैं। ठीक वैसे ही सूक्ष्मतर

पर जो कानून हैं उन्हें जान-समझकर और उनका पालन करके हम आंतरिक सुख-शांति हासिल कर सकते हैं।

रोग का कारण नहीं जानेंगे तो उसका निवारण नहीं कर पाएंगे। कहीं और ही जा उलझेंगे जिनका रोग से दूर-परे का भी संबंध नहीं। यही अज्ञान है जो कि हमें रोग-मुक्त नहीं होने देता। रोग का सही कारण मालूम हो जाय और उस कारण के निवारण में लग जायँ तो रोग-मुक्त होने में क्या संशय रहे।

जब मानवीय ज्ञान और प्रतिभा अपनी शैशव अवस्था में थी तो विस्मयविभोर मानव, प्रकृति के हर स्वरूप को रहस्यगुम्फित ही देखता था। उसके सौम्य स्वरूप से मुग्ध हो उठता था और प्रचंड स्वरूप से भयभीत। सही कारणों को न जानने की उस अवस्था में भयभीत मानव ने कल्पना के सहारे किसी अदृश्य देव के प्रकोप को प्रकृति की विनाशलीला का कारण समझा और अपनी सुरक्षा हेतु उसकी प्रसन्नता का याचक बना, उसकी प्रशंसा में गीत गाए, उसका पूजन-अर्चन किया, उसे अन्न-बलि ही नहीं, बल्कि निरीह-निरपराध पशुओं और मनुष्यों तक की बलि चढ़ाकर धरती को रक्त-रंजित किया। लेकिन जब सही कारण ही नहीं समझा तो रोग का इलाज कैसे होता? जिन थोड़े से मनुष्यों ने इन अंधविश्वासों की अवहेलना की और सच्चाई की खोज की, उन्हें अपने श्रम का उचित फल मिला। उन्होंने प्रकृति की सच्चाइयों के बहुत से रहस्य खोज निकाले। प्लेग, हैजा, चेचक जैसी महामारियों के सही कारण मालूम किए। मेधावी मानव ने इन रोगों के उन्मूलन में अपनी सारी शक्ति लगा दी। अकाल और

बाढ़ देखकर असहाय हो हाथ जोड़ने के बजाय उसने अपनी बुद्धि लगायी और पुरुषार्थ जगाया। नदियों पर बांध बांधे गए। सत्य की खोज करने वाले इन मानव मनीषियों ने इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में अंधविश्वास की जड़ें खोदीं और मानव जाति को सुख-साधन-समृद्ध करने में लगे रहे। स्तुत्य है मानव का यह सत्यशोधक अभियान जो कि अब अंतरिक्ष मापने के लिए अपना वामन कदम बढ़ा रहा है।

परंतु इस बाह्य अन्वेषण से कहीं अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण रहा अपने आंतरिक अंतरिक्ष का अन्वेषण, अपने आप से संबंध रखने वाली नि:सर्ग की सच्चाइयों की खोज। वे सच्चाइयां जिनकी वजह से हम दुख-संतप्त हो जाते हैं और वे जिनकी वजह से हम दुख-मुक्त हो सकते हैं। इनको न जानने की वजह से अपने दैनिक जीवन की कठिनाइयों का कारण इन देवी-देवताओं और जगदीश्वरों की रुष्टि पर, और निवारण उनकी तुष्टि पर आरोपित करने लगे। और इसीलिए जब-जब छोटा या बड़ा दुख आया तो अपनी अबोध और भयभीत मन:स्थिति में हम उनकी मनौती मनाने लगे, उन्हें भेंट चढ़ाने लगे, उनके स्थानों की यात्रा पर जाने लगे, उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसाओं के स्तवन पाठ करने लगे। इन मन:कल्पित विधाताओं को प्रसन्न करने के लिए अनगिनत कर्मकांडों का सृजन और पालन करने लगे।

परंतु मानव-जाति का प्रबुद्ध वर्ग इस आंतरिक सत्य की खोज में लगा रहा। अनेक युगों में ऐसे अनेक ऋषि, मुनि, संत, ज्ञानी, बुद्ध, जिन हुए जिन्होंने अंतर के अंतरिक्ष की खोज कर करके यह

सिद्ध किया कि हमारे दुखों का मूल कारण और उसके उन्मूलन का उपाय हमारे भीतर ही है, कहीं बाहर नहीं। उन्होंने देखा कि इस चित्तधारा पर जब क्रोध, ईर्ष्या, भय, वासना, मात्सर्य आदि विकारों की विकृति आती है तो हम दुख-संतप्त हो उठते हैं और यदि ये विकार दूर हो जायँ तो दुख से विमुक्त हो जाते हैं। उन्होंने खोजा कि आखिर ये विकार भी क्यों पैदा होते हैं? और पाया कि समस्त विकारों की जननी तृष्णा है। प्रिय को प्राप्त करने की तृष्णा, अप्रिय को दूर हटाने की तृष्णा। भीतर ही भीतर कोई प्रिय-सुखद संवेदना जागृत हुई कि राग-रूपी और कोई अप्रिय दुखद संवेदना हुई कि द्वेषरूपी तृष्णा जागी। खोज जारी रही और उन्होंने जानना चाहा कि ये प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुखद संवेदनाएं आखिर क्यों जागती हैं? तो उन्होंने देखा कि जब-जब आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छह इंद्रियों का अपने विषयों–रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और चिंतन से संस्पर्श-संघात होता है, तब-तब भीतर ही भीतर शरीर और चित्त-स्कंध पर विभिन्न प्रकार की अनगिनित सूक्ष्म तरंगें पैदा होती हैं और अपने पूर्व संस्कारों व अनुभूतियों के आधार पर हम उन्हें प्रिय या अप्रिय की संज्ञा देते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जब आंख, कान, नाक, जीभ पर किसी विषय का कोई स्पर्श नहीं हो रहा हो और परिणामतः संस्पर्शजन्य संवेदना नहीं हो रही हो तो भी शरीर और चेतना के स्तर पर तो जब तक जीवित हैं, तब तक प्रतिक्षण यह स्पर्श-संवेदनाएं होती ही रहती हैं और इन्हें प्रिय-अप्रिय मानकर हम राग अथवा द्वेष की प्रतिक्रिया करते ही रहते हैं। और उन्होंने यह भी देखा कि यह सारा का सारा प्रपंच अंतर्मन के उस स्तर पर

चलता रहता है जिस स्तर पर कि हमें होश ही नहीं रहता। या
हमें पता ही नहीं चलता कि कब स्पर्श हुआ? उसके परिणामस्वरू
कब संवेदना जागी और उसकी प्रतिक्रिया करते हुए कब हम राग-द्वे
के स्रोत में पड़ गए? कब तनाव-खिंचाव की गांठें बांधने लगे औ
कब दुखों का ढेर लगाने लगे? उन्होंने देखा कि ऊपर-ऊपर तथाकथि
होश बने रहने पर भी भीतर ही भीतर बेहोशी, अज्ञान, अविद्या, मो
के माहौल में हम इस चित्तधारा में प्रतिक्षण अनजाने ही राग-द्वे
का मैल प्रवाहित करते रहते हैं। वैसे ही जैसे नासूर में से पीप क
आस्रव सतत बहता रहता है। इसी कारण दुख-निमग्न हुए रहते हैं।

शोध जारी रही। उन्होंने देखा कि जिस-जिस क्षण अंतर्मन क
उन गहराइयों तक जागरूक रहते हैं, अप्रमत्त रहते हैं, अज्ञान, अविद्
और मोह से मुक्त रहते हैं, इस अनित्य प्रवाह को निर्लिप्त अनास
भाव से देखते रहते हैं उस-उस क्षण चित्तधारा पर नया राग न
जागता, नया द्वेष नहीं जागता। परिणामस्वरूप पुराने आस्रव क्षी
होते हैं, पूर्व संचित मैल छंटता है। उन्होंने देखा कि बार-बार क
समतामयी जागरूकता के अभ्यास से चित्तधारा निर्मल हुई जाती
और जितनी-जितनी निर्मल होती है उतनी-उतनी सद्गुणों से स्व
संपन्न होती जाती है। जब नितांत निर्मल हो जाती है तो सर्वथा सद्गु
संपन्न हो जाती है।

इस प्रकार स्वानुभूतियों के बल पर उन सत्यशोधकों ने दे
कि रोग का मूलभूत कारण और उसके निवारण का उपाय क्या है
निसर्ग ने अपने सारे राज, रहस्य उनके सामने खोलकर रख दि

उन्होंने देखा कि सत्यशोधन के इस प्रक्रम में उनकी अपनी चित्तधारा आस्रवों से, मैल से मुक्त हो गई है। उन्होंने पाया कि जो-जो व्यक्ति इस अंतर्निरीक्षण और आत्मदर्शन के प्रक्रम को अपनाता है, वह-वह निर्मल-चित्त होकर दुख-विमुक्त हो जाता है। सत्य-शोधन का यह प्रत्यक्ष लाभ मानव जाति की बहुत बड़ी उपलब्धि रही।

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि जैसा बाह्य भौतिक जगत के वैज्ञानिकों की खोज का लाभ उठाते हुए हम उनके द्वारा किए शोध प्रयोगों में से स्वयं नहीं गुजरते, हमें उनकी उपलब्धियों का सीधे लाभ मिलने लगता है, वैसे ही इस आंतरिक चैतसिक जगत की खोज का लाभ हमें स्वत: क्यों न मिले? हम उनके द्वारा खोजी गई सच्चाई को मान लें। उसमें श्रद्धा जगा लें। बस, काम पूरा हुआ। हममें से प्रत्येक व्यक्ति उस शोध के प्रक्रम में से स्वयं क्यों गुजरे? धर्म-दर्शन का अभ्यास स्वयं क्यों करे? उत्तर यही है कि यह शोध प्रक्रम ही तो उनकी खोज थी। यही तो हमारे रोग का इलाज है। जब तक कोई स्वयं आत्मनिरीक्षण न करे, तब तक दुख-विमुक्त नहीं हो सकता। अपने चित्त के विकारों का स्वयं साक्षात्कार करके ही उनका उन्मूलन किया जा सकता है। यही तो औषधि है जिसका सेवन करना ही होता है। जैसे किसी चिकित्साजगत के वैज्ञानिक ने खोज निकाला कि मलेरिया के रोग का अमुक कारण है और उस कारण का इलाज कुनैन की दवा है। अब कुनैन की दवा चाहे कितनी ही गुणकारी हो, पर उसे रोगी स्वयं सेवन करेगा तो ही मलेरिया से मुक्त होगा। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की विधियों में से भटकते हुए इन श्रेयार्थी साधकों ने धर्मदर्शन की दवा खोज निकाली जो कि हजार रामबाण

औषधि हो तो भी इसका सेवन तो अनिवार्य है ही। उन शुद्ध-बुद्ध-
महापुरुषों की तो इतनी ही कृपा है कि उन्होंने रास्ता ढूंढ दिया।
पर चलना तो हमें होगा ही। कोई अपने कंधे पर चढ़ाकर मं
तक पहुँचाने नहीं आएगा। 'अपनी मुक्ति अपने हाथ' की सच
को मानने का अर्थ अहंकारी बनना नहीं, बल्कि विनीत भाव से अ
जिम्मेदारी को स्वीकार करना है।

साधको ! मैं अपने तथा अपने परिचित हजारों साधकों के अ
के आधार पर कहता हूं कि प्रक्रिया के अभ्यास-मार्ग में कहीं
अलौकिक चमत्कार नहीं है। जो उपलब्धि होती है वह स्वयं
कठिन परिश्रम से ही होती है। मेरे पास मेरा मैला मानसिक अ
है। सौभाग्य से यह विधि साबुन स्वरूप प्राप्त हुई। मैंने इस स
का जितना प्रयोग किया, उतना ही मैल धुला, अधिक नहीं। जि
मात्रा में मैल बचे हैं, उतनी मात्रा में दुख है ही। काम कुछ न
अथवा जरा-सा ही करूं और मैल सारे धुल जायं ऐसा कोई क
नहीं होता। वस्तुतः यह तो जीवन भर का काम है। सारे जीवन
आपके प्रति सजग सचेत रहना ही होगा। अप्रमत्त रहना ही हो
सचमुच काम कठिन है। पर दूसरा कोई रास्ता भी तो नहीं।

लेकिन हमारा भोलापन है कि हम कोई करिश्मे का रास्ता
हैं। ऐसा करिश्मा जिसकी वजह से हमें कोई कठिन श्रम न
पड़े और सफलता भी मिल जाय। ऐसी अवस्था में हम फिर कल्पना-
की उड़ानें भरने लगते हैं। इतने मनीषियों द्वारा परम सत्य की
हो जाने के बाद यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि हमारे

का कारण कोई देव या जगदीश्वर नहीं, हमारे अपने संचित कर्म-संस्कार ही हैं। परंतु फिर आशा बांधने लगते हैं कि हमारे द्वारा हजार दूषित कर्म करने के बावजूद भी कोई ऐसा सर्वशक्तिमान और करुणासागर है जिसे किसी प्रकार प्रसन्न कर लें तो वह हमारे सारे दुखों को दूर कर देगा। इस आशा में फिर खुशामदें, भेंट, चढ़ावे, का क्रम चल पड़ता है। हम नहीं जानते हम कर क्या रहे हैं? अंधभक्ति के भावावेश में हमने जिस भगवान का निर्माण किया उस बेचारे की ही कैसी मट्टीपलीद कर रहें हैं? कैसा है यह भगवान जो अपने मान-सम्मान से प्रसन्न होता है? अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा-प्रशस्तियों से फूलकर कुप्पा हो जाता है। जी-हजूरी करने वाले खुशामदी लोगों पर कृपादृष्टि रखता है। भेंट चढ़ाने वालों पर अपनी महर बरसाता है। अपने प्रशंसक पर प्रसन्न होकर उसके काले को भी सफेद कर देता है। प्रवंचक अपराधी को निरपराधी के समकक्ष बैठा देता है। अहं का पुतला ऐसा कि कोई भूले-चूके भी उसका नाम ले ले तो उसे झट तार देने पर तत्पर हो जाता है। ऐसी आसक्ति है उसे अपने नाम से। और ऐसी ही आसक्ति है उसे अपने संप्रदाय से! जिस-जिस संप्रदाय का भगवान है, उस-उस संप्रदाय के व्यक्ति का पक्ष लेता है और अलग-अलग संप्रदायों के हमने अलग-अलग पक्षपाती भगवान खड़े कर लिए। अरे, कोई सीमा है हमारे भोलेपन की भी? क्या सचमुच इस विशाल विश्व की व्यवस्था ऐसे किसी शासक या शासकों के हाथ में है जो पक्षपाती हैं, दंभी हैं, निरंकुश हैं, कानून-कायदों को, धर्म-विधान को ठुकराकर मनमानी करने वाले हैं? दुर्गुण ही दुर्गुण के भण्डार हैं।

यदि मान्यता ही करनी थी तो ऐसे दुर्गुणों की जगह किस सद्गुण-संपन्न देवता की करते ताकि उसके गुणों का चिंतन कर उससे प्रेरणा पाकर स्वयं सर्व-गुणसंपन्न होने में तो लगते। कल्या तो सधता। परंतु अपने भोलेपन में हम अपना ही अमंगल साध लगे। चित्त-विशुद्धि से ही दुख-विमुक्ति है, इस विधान को स्वीकार हुए भी चित्त विशुद्ध हो, न हो, इस विधान के परे किसी निरंकु विधायक को प्रशंसाओं से प्रसन्न करने के भोलेपन में जुट गए।

धर्म-दर्शन का अभ्यास हमें ऐसी भूलों से बाहर निकालता है दुख का कारण चित्त के दूषण हैं और चित्त के इन दूषणों से विमु हो जाना ही दुख-विमुक्ति है। निसर्ग का यह अटल नियम-विध जितना स्पष्ट होता चला जाय, उतना चित्त-विशुद्धि को ही एकम लक्ष्य मानकर हम धर्मपथ पर आरूढ़ हो जायँ। फिर तो विधान पाल ही हमारे लिए प्रमुख हो जाय और सब गौण। विधान ही विधाय हो जाय, नियम ही नियामक हो जाय, सत्य ही नारायण हो जा धर्म ही ईश्वर हो जाय। विधान, नियम, सत्य, धर्म को ठुकरा इनसे अलग किसी नारायण को प्रसन्न करने की बात मन में अ ही नहीं। धर्म छूटने में अमंगल ही अमंगल सूझे और धर्म-धा में मंगल ही मंगल।

सत्य को ही ईश्वर मानकर उसके प्रति सविवेक श्रद्धा रखते जब हम धर्म-दर्शन का अभ्यास करते हैं तो सचमुच जितना-जि धर्मदर्शन यानी सत्यदर्शन होता है, उतने-उतने दुखविमुक्त हो हैं। उस अवस्था में अनंत प्रकृति की सूक्ष्मतर सच्चाइयों के

समरस होने लगते हैं और प्रकृति की यह सच्चाई अपने ही नियमों से बंधी होने के कारण स्वत: हमारी रक्षा करने लगती है। धारण करें तो धर्म स्वत: हमारी रक्षा करता है। इसके लिए उसकी अथवा किसी की भी खुशामद नहीं करनी पड़ती। यह धर्मनियामकता है। जब हमारा मन दुर्गुणों में उलझता है और दूषित वृत्तियों की तरंगें पैदा करता है तो समस्त विश्व में व्याप्त वैसी दूषित तरंगों के साथ समरस होकर हमारे दुर्गुणों को और फलत: दुखों को बढ़ाता है। ठीक इसी प्रकार जब हमारा मन दुर्गुणों से मुक्त होकर निर्मल होता है, सद्गुणों से भरता है, सद्वृत्तियों की तरंगें प्रजनन करने लगता है तो अनंत विश्व में समायी हुई दृश्य-अदृश्य प्राणियों की, जो भी सात्त्विक देव-ब्रह्म हैं उनकी शुद्ध धर्ममयी सात्त्विक तरंगें हमसे आ मिलती हैं, हमें बल प्रदान करती हैं और हमारा सुख-संवर्धन करती हैं, संरक्षण करती हैं। यही नियम है, विधान है, जो प्रत्यक्ष अनूभूत किया जा सकता है।

किसी भी देश का राज्य-विधान उस देश का धर्म होता है– वैसे ही यह सार्वदेशिक, सार्वजनीन, सार्वकालिक विश्व-विधान, विश्व-धर्म है। जब उस देश का नागरिक उस राज्य-विधान के अनुसार जीवन-यापन करता है, विधान को तोड़ता नहीं, तो उसे विधायक के कुपित होने का कोई भय नहीं होता। दूसरी ओर बिना प्रार्थना-पुकार के उसकी सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी राज्य की ही होती है। परंतु जो विधान को, राज्य के कानून को कदम-कदम पर तोड़ता है और विधायक या शासक को खुश रखने के लिए उसकी खुशामदें करता है, उसे फूल-पत्तियां चढ़ाता है तो ऐसा व्यक्ति न केवल अपनी बल्कि

समस्त देश और समाज की सुख-शांति के लिए, व्यवस्था के खतरनाक साबित होता है। जिस देश के लोग राज्य के कानून सजग होकर पालन करें, उस देश में, समाज में सुख-शांति विर ही। इसी प्रकार इस विशाल विश्व-राज्य में भी विश्व-विधान धर्म-पालन के अतिरिक्त सुख-शांति हासिल करने का और क्या स हो सकता है?

इसीलिए न केवल अपनी सुख-शांति के लिए, बल्कि स सुख-शांति के लिए धर्म धारण करें। विश्व-विधान के अनुकूल जिएं और अटूट निष्ठा के साथ धर्मदर्शन के अभ्यास द्वारा चि विकार-विहीन करने में लगें। इस अभ्यास में जो भी बाधाएं वे कितनी ही प्रिय लगने वाली क्यों न हों, वे हमारे मत-म की रूढ़ मान्यताओं के कितनी ही अनुकूल क्यों न हों, उन्हें निर्ममता दूर करके "एकै साधे सब सधे" वाले अनन्यभाव से चित्त-वि का अनथक प्रयत्न करते ही रहें, करते ही रहें। अनंत के कण में समाए हुए मंगलमय परम सत्य का यही विधान है।

सत्य धर्म जगदीश

कुदरत का कानून है, कृपा करे ना क्रोध।
विकृत मन होवे दुखी, होय सुखी चितशोध॥
किसको पूजूं हवि करूं? कौन देवता ईश?
मैं तो पूजूं सत्य को, सत्य धर्म जगदीश॥
ऋत छूटा अनृत रहा, रचिया बना प्रधान।
ऋत-रचिया के फेर में, ऋत भूला नादान॥
क्या ईश्वर पूजन करें? धर्म रहे ना पास।
क्या ईश्वर पूजन करें? धर्म रहे यदि पास॥
शील पालना कठिन है, ईश भजन आसान।
शील छोड़ ईश्वर भजें, कितने जन नादान॥
धर्म पालने में जहां, जो जो बाधक होय।
चाहे जितने प्रिय लगें, त्यागें निर्मम होय॥

19. विपश्यना क्यों ?

मन में मैत्री करुण रस, वाणी अमृत घोल।
जन जन के हित के लिए, धर्म वचन ही बोल॥

शांति व चैन किसे नहीं चाहिए जबकि सारे सं में अशांति और बेचैनी छायी हुई नजर आती है? शांतिपू जीना आ जाय तो जीने की कला हाथ आ जाय। सच्चा धर्म सच जीने की कला ही है, जिससे कि हम स्वयं भी सुख और शांतिपू जीएं तथा औरों को भी सुख-शांति से जीने दें। शुद्ध धर्म यही सिख है, इसलिए सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौमिक होता है। संप्र धर्म नहीं है। संप्रदाय को धर्म मानना प्रवंचना है।

समझें! धर्म कैसे शांति देता है?

पहले यह जान लें कि हम अशांत और बेचैन क्यों हो जाते गहराई से सोचने पर साफ मालूम होगा कि जब हमारा मन वि से विकृत हो उठता है तब वह अशांत हो जाता है। चाहे क्रोध लोभ हो, भय हो, ईर्ष्या हो या और कुछ। उस समय विक्षुब्ध ह हम संतुलन खो बैठते हैं। क्या इलाज है जिससे हममें क्रोध, इ

भय इत्यादि आएं ही नहीं और आएं भी तो इनसे हम अशांत न हो उठें।

आखिर ये विकार क्यों आते हैं? अधिकांशत: किसी अप्रिय घटना की प्रतिक्रियास्वरूप आते हैं। तो क्या यह संभव है कि दुनिया में रहते हुए कोई अप्रिय घटना घटे ही नहीं? कोई प्रतिकूल परिस्थिति पैदा ही न हो? नहीं, यह किसी के लिए भी संभव नहीं। जीवन में प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार की परिस्थितियां आती ही रहती हैं। प्रयास यही करना है कि विषम परिस्थिति पैदा होने के बावजूद भी हम अपने मन को शांत व संतुलित रख सकें। रास्ते में कांटे-कंकर रहेंगे ही। उपाय यही हो सकता है कि हम जूते पहन कर चलें। तेज वर्षा-धूप आयेगी ही, बचाव इसी में है कि हम छाता तानकर चलें। यानी प्रतिकूल परिस्थितियों में बावजूद भी हम अपनी सुरक्षा स्वयं करना सीखें।

सुरक्षा इसी में है कि कोई गाली दे, अपमान करे तो भी मैं क्षुब्ध न होकर निर्विकार बनकर रहूं। यहां एक बात यह विचारणीय है कि किसी व्यक्ति द्वारा अयोग्य व्यवहार करने पर यानी उसके दोष के कारण क्षोभ या विकार मुझे क्यों होता है? इसका कारण मुझमें यानी मेरे अचेतन मन में संचित अहंकार, आसक्ति, राग, द्वेष, मोह आदि की गांठें हैं जिन पर उक्त घटना के आघात लगने पर क्रोध, द्वेष आदि विकार चेतन मन पर उभरते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति का अंतर्मन परम शुद्ध है उसे ऐसी घटनाओं से कोई विकार या अशांति नहीं हो पाती।

परंतु प्रश्न यह है कि जब तक अंतर्मन परम शुद्ध नहीं हो जात तब तक क्या किया जाय ? मन में पूर्व-संचित संस्कारों की गंदगियां त हैं ही और इन्हीं के कारण किसी भी अप्रिय घटना का संपर्क हो ही नए विकारों का उभार आता ही है। ऐसी अवस्था में क्या करें ?

एक उपाय तो यह है कि जब मन में कोई विकार जागे तो उ दूसरी ओर लगा दें। किसी अन्य चिंतन में अथवा अन्य काम में यानी वस्तुस्थिति से पलायन करें। परंतु यह सही उपाय नहीं है। जि हमने दूसरी ओर लगाया वह तो ऊपर-ऊपर का चेतन मन है। अं का अचेतन, अर्द्धचेतन मन तो उसी प्रकार क्षुब्ध होकर भीतर ह भीतर मूंज की रस्सी की तरह अकड़ता और गांठें बांधता जाता है भविष्य में जब कभी ये गांठें उभरकर चेतन मन पर आएंगी तब औ अधिक अशांति और बेचैनी पैदा करेंगी। अत: पलायन करना समस् का सही समाधान नहीं है। रोग का सही इलाज नहीं है।

इसी समस्या के समाधान की खोज आज से लगभग 2500 व पूर्व इसी देश में भगवान गौतम बुद्ध ने की और लोगों के कल्या के लिए इसे सर्वसुलभ बनाया। उन्होंने अपनी अनुभूतियों के ब पर जाना कि ऐसे अवसर पर पलायन न करके वस्तुस्थिति का सामन करना चाहिए। किसी भी घटना के कारण जो भी विकार जागे उ यथावत देखना चाहिए। क्रोध आया तो क्रोध जैसा है उसे वैसा देखें। देखते रहें। इससे क्रोध शांत होने लगेगा। इसी प्रकार जो विक जागे, उसे यथाभूत देखने लगें तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाएगी परंतु कठिनाई यह है कि जिस समय विकार जागता है उस सम

हमें होश नहीं रहता। क्रोध आने पर यह नहीं जानते हैं कि क्रोध आया है। क्रोध निकल जाने के बाद होश आता है। तब सोचते हैं कि बड़ी भूल हुई जो क्रोध में आकर किसी को गाली दी या मार-पीट पर उतारू हो गये। इस बात को लेकर पश्चात्ताप करते हैं परंतु दूसरी बार वैसी परिस्थिति आने पर फिर वैसा ही करते हैं। वस्तुतः क्रोध आने पर तो हमें होश रह नहीं पाता। बाद में होश आने पर पश्चाताप करने से लाभ नहीं होता। चोर आए तब तो सोए रहें, परंतु उसके द्वारा घर का माल चुरा ले जाने के बाद जल्दी-जल्दी ताले लगाएं तो इससे क्या लाभ? निकल भागने के बाद उस सांप की लकीर पीटते रहें तो क्या लाभ? विकार जागने पर होश कौन दिलाए? क्या हर आदमी अपने साथ सचेतक के रूप में कोई सहायक रखे? यह संभव नहीं है। और मान लीजिए कि संभव हुआ भी, किसी ने अपने लिए कोई सहायक नियुक्त कर भी लिया और ऐन मौके पर उस सहायक ने सचेत भी कर दिया कि आपको क्रोध आ रहा है, आप क्रोध को देखिए। तो दूसरी कठिनाई यह है कि अमूर्त क्रोध को कोई कैसे देखे? जब क्रोध को देखने का प्रयास करते हैं तब जिसके कारण क्रोध आया है वही आलंबन बार-बार मन मेठ उभरता है और आग में घी का काम करता है। वही तो उद्दीपन है। उसी के चिंतन से विकार से छुटकारा कैसे होगा? बल्कि उसे बढ़ावा मिलेगा। तो एक और बड़ी समस्या यह है कि आलंबन से छुटकारा पाकर अमूर्त विकार को साक्षीभाव से कैसे देखा जाय?

अतः हमारे सामने दो समस्याएं हैं। एक तो यह कि विकार के जागते ही हम सचेत कैसे हों? और दूसरी यह कि सचेत हो जायं

तो अमूर्त विकार का साक्षीभाव से निरीक्षण कैसे कर सकें? महापुरुष ने प्रकृति की सच्चाइयों की गहराई तक खोज करके देखा कि किसी भी कारण से जब कभी मन में कोई विकार जा है तब एक तो सांस की गति में अस्वाभाविकता आ जाती है दूसरे शरीर के अंग-प्रत्यंग में सूक्ष्म स्तर पर किसी न किसी प्र की जीव-रासायनिक क्रिया होने लगती है। यदि इन दोनों को का अभ्यास किया जाय तो परोक्ष रूप से अपने मन के विका देखने का काम ही होने लगता है और विकार स्वतः क्षीण होते निर्मूल होने लगता है। सांस को देखने का अभ्यास आना-पान कहलाता है और शरीर में होने वाली जीव-रासायनिक प्रतिक्रि को साक्षीभाव से देखने का अभ्यास विपश्यना कहलाता है। एक-दूसरे से गहरे संबंधित हैं। इन दोनों का बहुत अच्छा अ हो जाय तो किसी भी कारण जब मन में विकार उठे तो पहला यह होगा कि सांस की बदली हुई गति और शरीर में उत्पन्न हुई भी प्रकार की जीव-रासायनिक प्रतिक्रिया हमें सचेत करेगी कि चि में कोई विकार जाग रहा है। सांस और इस सूक्ष्म संवेदना को लगें तो स्वभावतः उस समय के उठे हुए विकार का उपशमन, उ होने लगेगा। जिस समय हम अपने सांस के लेने और छोड़ साक्षीभाव से देखते हैं अथवा शरीर की जीव-रासायनि विद्युत्-चुंबकीय प्रतिकिया को साक्षीभाव से देखते हैं, उस समय उत्पन्न करने वाले आलंबन से सहज ही संपर्क टूट जाता है होना वस्तुस्थिति से पलायन नहीं है। क्योंकि अंतर्मन तक उस ने जो हलचल पैदा कर दी उस सच्चाई को अभिमुख होक

रहे हैं। सतत अभ्यास द्वारा अपने आपको देखने की यह कला जितनी पुष्ट होती है उतनी ही स्वभाव का अंग बनती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती है कि विकार जागते ही नहीं अथवा जागते हैं तो बहुत दीर्घ समय तक चल नहीं पाते या चलते भी हैं तो पत्थर की लकीर की तरह के संस्कार गहरे अंकित नहीं हो पाते। बल्कि पानी या बालू पर पड़ी लकीर जैसा हल्का सा संस्कार बनता है जिससे शीघ्र छुटकारा मिल जाता है। संस्कार जितना गहरा होता है, उतना ही अधिक दुखदायी और बंधनकारक होता है। जितनी शक्ति से और जितनी देर तक किसी विकार की प्रक्रिया चलती है, अंतर्मन पर उसकी उतनी ही गहरी लकीर पड़ती है। अत: काम की बात यह है कि विकार जागते ही उसको साक्षीभाव से देखकर उसकी शक्ति क्षीण कर दी जाय ताकि वह अधिक लंबे अर्से तक चलकर गहराई में न उतर सके। आग लगते ही उस पर पानी छिड़कें। कहीं ऐसा न हो कि पेट्रोल छिड़क कर उस आग को बढ़ावा दे दें। जगे हुए विकार को सचेत होकर तत्क्षण देखने लग जाना उस विकार की आग पर पानी छिड़कना है और जिस आलंबन को लेकर विकार जागा, बार-बार उसका चिंतन करना, उस पर पेट्रोल छिड़कना है। अपने अपमान की अप्रिय घटना को याद करते रहें तो द्वेष की लकीर को याद करके अधिक गहरी बना लेते हैं। उससे बाहर निकलना दूभर हो जाता है।

प्रकृति के कानून को ऋत कहते हैं। हम उसे ही धर्म कहते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि जब हमारे मन में कोई विकार जागता है, तब हम अशांत हो जाते हैं और विकार से छुटकारा पाते ही अशांति से छुटकारा पा लेते हैं। सुख-शांति भोगने लगते हैं। प्रकृति

के इस नियम को जानकर विकारों से छुटकारा पाने का कोई तरीका कोई महापुरुष धर्म के रूप में दुखियारे लोगों को देता है। परंतु अपने पागलपन से उन तरीकों को अपनाने के बजाय यानी धर्म को धारण करने के बजाय हम उसे वाद-विवाद का विषय बनाकर सिद्धांतों की लड़ाई में पड़ जाते हैं और कोरे दार्शनिक बुद्धिविलास से पारस्परिक विद्रोह बढ़ाकर अपनी हानि करते हैं। विपश्यना दार्शनिक सिद्धांतों का संघर्ष नहीं है। हर व्यक्ति ज्ञान-चक्षु द्वारा अपने आपको देखे, स्व का निरीक्षण करे। अपने भीतर जब विकारों की आग लगे तब उसे स्वयं देखकर बुझाए। यही सम्यक्‌दर्शन है। यही 'स्व' का निरीक्षण है। ज्ञान-चक्षु से निरीक्षण है। अनुभूतियों के स्तर पर सत्य निरीक्षण है। जागरूक रहकर यथावत सत्य को देखने का अभ्यास विपश्यना है। इसको बुद्धिविलास का विषय बनाने से कोई लाभ नहीं। पढ़ने-सुनने या चर्चा-परिचर्चा से बौद्धिक-स्तर पर विषय समझ लिया जा सकता है। उससे कुछ प्रेरणा भी मिल सकती है। परंतु वास्तविक लाभ अभ्यास करने में है। अपने मन को विकारों से विकृत न होने दें, सदा सचेत रहकर स्व का निरीक्षण करते रहें, यह काम बिना अभ्यास के संभव नहीं है। जन्म-जन्मांतरों से मन पर संस्कारों, विकारों की जो परतें पड़ीं और नए-नए विकार बनाते रहने का जो स्वभाव बन गया, उससे छुटकारा पाने के लिए साधना का अभ्यास नितांत आवश्यक है। उसे केवल सैद्धांतिक स्तर पर जान लेना पर्याप्त नहीं है और न केवल दस दिनों का शिविर ही काफी है। सतत अभ्यास की आवश्यकता है।

मात्र दस दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति पारंगत नहीं हो सकता दस दिन में तो भविष्य में अभ्यास करने की एक विधि हाथ लगे

है। अभ्यास पूरे जीवन तक का है। जितना अभ्यास बढ़ता है, उतना धर्म जीवन में उतरता है। जीवन जीने की कला पुष्ट होती है। आत्म-सजगता बढ़ती है तो आचरण सुधरते हैं, चित्त निर्मल, निर्विकार होता है। निर्मल-निर्विकार चित्त मैत्री, करुणा, मुदिता और समता के सद्‌गुणों से स्वभावतः भरता है। साधक स्वयं तो कृतकृत्य होता ही है, समाज के लिए भी सुख-शांति का कारण बनता है।

सौभाग्य से यह आत्म-निरीक्षण यानी स्व-निरीक्षण का अभ्यास, विपश्यना की साधना-विधि ब्रह्मदेश में दो हजार पच्चीस सौ वर्ष से आज तक अपने शुद्ध रूप में जीवित है। मुझे सौभाग्य से इस विधि को सीखने का कल्याणकारी अवसर प्राप्त हुआ। शारीरिक रोग के साथ-साथ मानसिक विकारों एवं आसक्ति भरे तनावों से छुटकारा पाने का रास्ता मिला। सचमुच एक नया जीवन ही मिला। धर्म का मर्म जीवन में उतर सकने की एक मंगल विधा प्राप्त हुई। अब विगत पांच वर्षों से भारत में आया हूं। यह विधि तो इसी देश की पुरातन निधि है। पवित्र संपदा है। किसी भी कारण से यहां विलुप्त हो गई। मैं तो भागीरथ की तरह इस खोई हुई धर्म-गंगा को ब्रह्मदेश से यहां इस देश में पुनः ले आया हूं और जिसे अपना बड़ा सौभाग्य मानता हूं।

याद करता हूं कि विकारों से विकृत होकर मैं कितना दुखी रहा करता था और इन विकारों से छुटकारा पाकर कितना दुख-मुक्त हुआ, सुखलाभी हुआ। इसलिए जी चाहता है कि अधिक से अधिक लोग जो अपने विकारों से विकृत हैं और इसलिए दुखी हैं वे इस कल्याणकारी विधि द्वारा विकारों से छुटकारा पाना सीखें और दुख-मुक्त होकर सुखलाभी

हों। याद करता हूं कि जब मैं विकारों से विकृत होकर दुखी हो
था तो अपना दुख अपने तक सीमित न रखकर औरों को बांट
था। औरों को भी दुखी बनाता था। उस समय मेरे पास बांटने
लिए दुख ही था। अब जी चाहता है कि इस कल्याणकारी वि
द्वारा जितना-जितना विकारों से उन्मुक्त हुआ और फलतः जो
यत्किंचित सुख-शांति मिली, उसे लोगों में बांटूं। इसे बांटने
सुख-संवर्धन होता है। मन प्रसन्न होता है। इन दस दिन के शिवि
में लोग अक्सर मुरझाए हुए चेहरे लेकर आते हैं और शिविर समा
पर खिले हुए चेहरों से घर लौटते हैं तो सचमुच मन सुख-सं
से भर उठता है। अधिक से अधिक लोग इस मंगलकारी विधि
लाभ उठाकर सुखलाभी हों, अधिक से अधिक लोगों का भला
कल्याण हो, मंगल हो! यही धर्मकामना है।

भवतु सब्ब मंग

सूचना केंद्र, अजमेर में दिनांक : 30 सितंबर, 75 को दिए गए सार्वजनिक प्रवचन का सारांश। संग्राहक : श्री रामेश्वर दास गर्ग।

प्यासा पाए धर्मरस

पाप होय झट रोक ले, करे न बारम्बार।
धर्मवान जाग्रत रहे, अपनी भूल सुधार॥
देखें मन की गंदगी, देखें मन के दोष।
देखत देखत देखते, होवे मन निर्दोष॥
मन में उठें विकार जब, अभिमुख होकर देख।
अनासक्त हो देखते, रहे न दुख की रेख॥
जब जब उठे विकार मन, सांस विषम हो जाय।
हलचल होय शरीर में, देख देख मिट जाय॥
व्याकुल ही होता रहा, देख पराए दोष।
लगा देखने दोष निज, तब से आया होश॥
प्यासा पाए धर्म रस, अमृत की सी घूंट।
निर्धन पाए धर्म धन, जाय दुखों से छूट॥

20. आओ सुख बांटें

जीवन भर हमने लोगों को कितना दुख बांटा है!

अपनी मूर्खता से जब-जब मन में विकार पैदा किया तब-त
उसे दौर्मनस्य से भरा; और केवल मन से ही नहीं, बल्कि वाणी अ
काया से भी ऐसे दुष्कर्म कर दिए जिनसे लोग दुखी, संत्रस्त, संता
हुए! कितनों के दुखों का कारण बने हम! कितनों की व्याकुल
का! दुख ही दुख तो बांटा लोगों को हमने!

अब अपना कोई पुराना पुण्य जागा जिसकी वजह से यह सार्वजनि
संप्रदाय-विहीन अनमोल और मंगलकारी धर्मरत्न प्राप्त हुआ।
धर्म-संपत्ति ने कितना संपन्न बना दिया हमें! कितनी विपन्नता धुल
कितने विकारों से मुक्ति मिली! कितने दुखों से छुटकारा मिला! अ
परिस्थिति में भी मुस्कराना आ गया! मन में मैत्री और करुणा
ऊर्मियां लहराने लगीं! जीवन धन्य हो उठा। अरे, यही तो सुख
यही तो सच्चा सुख है!

आओ, बांटें ऐसा सुख सबको! ऐसा सुख सबको मिले।
धर्म सबको मिले। जगत में कोई दुखियारा न रहे। सब अपने त्रि

से मुक्त हो जायँ, मन की गांठें खुल जायँ, मलीनता दूर हो जाय। सभी निर्वैर हों। निर्भय हों! निरामय हों! निर्विकार हों! निष्पाप हों! निर्वाणलाभी हों!

इसीलिए आओ, सद्धर्म के प्रति असीम कृतज्ञता और अनन्य निष्ठाभाव रखते हुए, प्राणियों के प्रति असीम मंगल मैत्री रखते हुए, आओ! जन-जन के भले के लिए और अपने भले के लिए भी, हम सभी मिलकर अपनी सम्मिलित शक्ति लगाएं और ऐसा जीवन जीएं जिससे अधिक से अधिक लोग सद्धर्म की ओर आकर्षित हों! अधिक से अधिक दुखियारे लोग सद्धर्म-रस का पान कर सकें और दुख-मुक्त हो सकें! इस निमित्त उनकी जितनी सेवा कर सकें, करें! उन्हें जितनी सुविधा प्रदान कर सकें, करें! जितनी सहूलियतें प्रदान कर सकें, करें। उन्हें सही मायने में सुखलाभी बनाएं।

अपना सुख बांटने में ही हमारा सुख समाया हुआ है, सबका सुख समाया हुआ है। ★

जन जन मंगल होय

जन जन में जागे धरम, सुधरे जग व्यवह
बैर भाव सारा मिटे, रहे प्यार ही प्या
शुद्ध धर्म जैसा मिला, वैसा सब पा ज
मेरे मन के शांति सुख, जन जन मन छा जा
सुख छाए इस जगत में, दुखिया रहे न को
जन जन में जागे धरम, जन जन सुखिया हो
शुद्ध धर्म जन में जगे, दूर होय संत
निर्भय हों, निर्वैर हों, सभी होयं निष्पा
दुखियारा संसार है, जन मन बसे त्रि
जन जन के मन विमल हों, सुखी होय संस
ना कोई दुर्मन रहे, ना ही द्वेषी ह
जन जन का कल्याण हो, जन जन मंगल ह